ISSN :2278-0912

❖ ओ३म् ❖

पौष-माघ: २०७०

ज्योतिष्कृणोति सूनरी

आर्ष-ज्योतिः

जनवरी २०१४

❖संरक्षकाः❖

स्वामी प्रणवानन्दसरस्वती
कै. रुद्रसेन आर्यः
श्रीश्रीकान्तवर्मा
आचार्ययज्ञवीरवर्याः
श्रीचन्द्रभूषणशास्त्री

❖परामर्शदातृमण्डलम्❖

प्रो. महावीरः
प्रो. शशिप्रभाकुमारः
डॉ. धर्मेन्द्रकुमारशास्त्री
डॉ. भोलाझाः
डॉ. ज्वलन्तकुमारशास्त्री

❖मुख्यसम्पादकौ❖

डॉ. धनञ्जय आर्यः
रवीन्द्रकुमारः

❖कार्यकारी सम्पादकः❖

ब्र. शिवदेवार्यः

❖अङ्कस्य निर्णायकमण्डलम्❖

प्रो. ब्रह्मदेववर्याः
डॉ. विनयविद्यालङ्कारवर्याः
डॉ. ओमनाथबिमलीवर्याः

❖कार्यालय❖

श्रीमद्दयानन्द आर्ष ज्योतिर्मठ गुरुकुल
दून वाटिका-२, पौंधा,
देहरादून (उत्तराखण्ड)
दूरभाष - ०९४१११०६१०४
website: www.prawanand.org
E-mail : arsh.jyoti@yahoo.in
मूल्य : रु. ५/- प्रति, वार्षिक : रु. ५०/-
मूल्य : रु. ३०/- प्रति(शोधाङ्क)

विषयानुक्रमणिका

विषय		पृ.सङ्ख्या
सम्पादकीय		२
रामायण काल में नारी.....	- आचार्य यज्ञवीर व्याकरणाचार्य	४
भर्तृहरेर्विवर्तवादस्य तत्त्वम्	-डॉ. ओमनाथ बिमली	८
वैदिकवाङ्मये नारी	- सुशील कुमारी	१४
कर्मतत्त्व के सन्दर्भ में..........	-डॉ. सोमवीर	१६
वैदिकयज्ञविज्ञानम्	-अजीतकुमारः	२०
कारकविषयक विभिन्न परिभाषायें	-सरिता कुमारी	२३
अथ श्री ओमानन्द लहरी	- आचार्य यज्ञवीर व्याकरणाचार्य	२७
व्याकरण-शास्त्र में.........	-सरिता कुमारी	३१
गीता में प्रतिपादित...........	- डॉ. वेदव्रत	३६
ऋषि दयान्द सरस्वती..........	- प्रमा शास्त्री	३८
मीमांसा दर्शन में निषेध विमर्श	- प्रशान्त	४४
आख्यातपदलक्षणम्	- अजीतकुमारः	४८
वैदिकवाङ्मये मानवाधिकारबोधः	-सुनीता	५१
भवभूते कृतिषु पर्यावरण-चेतना	-सौरभार्यः	५५

नीमीतीरे सततसुखदे सर्वतो दर्शनीयम्,
पौन्धाग्रामे नगरनिनदाद् दूरमीक्ष्यं मनुष्यैः।
हैमे तुङ्गे शिखरिशिखरे शोभनोपत्यकायाम्,
आर्षज्योतिर्मठगुरुकुलं राजते संसृतौ मे।।

रवीन्द्रकुमारः

सम्पादक की कलम से...

भारतीय संस्कृति एवं उसकी विशेषता

अखिल विश्व इस सत्य से परिचित है कि भारतीय संस्कृति का मूल संस्कृत है। अगर भारतीय संस्कृति को आमूल समझना है तो संस्कृत भाषा को भी आमूल पढ़ना ही होगा। अनेक आक्रान्ता इस बात से परिचित थे कि संस्कृत भाषा के विनाशोपरान्त ही भारतीयसंस्कृति के बीज को समाप्त किया जा सकता है। मुस्लिम आक्रान्ता इस ओर प्रयासरत हुए और उन्होंने इस कार्य को किया भी। हमारे उन उच्चतम पुस्तकालयों एवं संस्थाओं को नष्ट किया, जो इस वैदिक शाश्वत भारतीय परम्परा को अक्षुण्ण रखने का कार्य करती थी। जो लोग भारतीय के पक्षधर थे, जो इस महान् संस्कृति को सुरक्षित करने में तत्पर थे, उन पर अत्यधिक अत्याचार किया। उन संस्कृतिप्रेमियों ने इस भारतीयसंस्कृति की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति भी दे डाली, पर आज की युवा पीढी इस भारतीय संस्कृति की महत्ता को नहीं समझ पा रही है। चारों तरफ पाश्चात्य परम्परा का महान् प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव पूर्णरूप से दिखायी दे रहा है। आज मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि मतावलम्बी जन अपनी संस्कृति को बढ़ाने एवं सुरक्षित करने में अहर्निश संलग्न है, परन्तु हम भारतीय संस्कृति वाले लोग उन्हीं की ओर आकर्षित हो रहे हैं। आज विश्व में प्रचलित सभी संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति से पीछे है। इन सभी संस्कृतियों में भारतीय परम्परा प्राचीन है। यह संस्कृतियों से प्राचीन एवं समृद्ध है। इस संस्कृति की समस्त परम्पराएँ वैज्ञानिक एवं तार्किक है। आधुनिक संस्कृतियाँ तो इस संस्कृति के समक्ष बहुत नीचे हैं। भारतीय परम्परा के धार्मिक ग्रन्थ वेद विश्व के सर्वप्राचीन ग्रन्थ है। उन जैसा ज्ञान-विज्ञान का आविर्भाव करने वाला धर्मग्रन्थ अन्य संस्कृतियों के पास नहीं है। हमारे चारों वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, दर्शन, उपनिषद्, स्मृतिग्रन्थ, रामायण, महाभारत, गीता आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के समक्ष उनका कोई ग्रन्थ टिकने वाला नही है। हमारा ज्योतिष शास्त्र, हमारी गणितीय विद्या ये तो विश्व को आश्चर्यचकित करने वाली विद्या है। जब विश्व सूर्य और पृथिवी के रहस्यों से अनभिज्ञ था, तब भारतीय लोग उन रहस्यों को समझकर ग्रन्थ लिख रहे थे। इतनी सारी विशेषताओं वाली अपनी परम्परा को आज युवा पीढ़ी भूलती जा रही है। इस परम्परा के संरक्षण में जो परिश्रम पूर्वजों ने किया था, उस परिश्रम का महत्त्व युवा पीढ़ी को समझना पडेगा, अन्यथा अन्य संस्कृतियाँ हम पर इतनी हावी हो जायेंगी कि भारतीयता का दर्शन दुर्लभ हो जायेगा। यजुर्वेद में कहा है कि **'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा'** अर्थात् यह भारतीय संस्कृति विश्व की प्रथम संस्कृति है। यही वह संस्कृति है जो विश्व को एकसूत्र में बाँधने का कार्य करती है। हे युवाओं! इस भारतीय परम्परा के महत्त्व को समझो और इस परम्परा को परिवर्धित करने का उपाय करो। आज भारतीय संस्कृति और संस्कृत दोनों के विनाश के लिए कुछ लोग प्रयासरत हैं। ऐसे दुष्टों से सावधान होकर हमें अपनी परम्परा की सुरक्षा का उपाय करना होगा।

आज विश्वविद्यालयों एवं विद्यालयों में अपनी भारतीय संस्कृति की विशेषता का पाठ नहीं पढ़ाया जा रहा है। सरकार संस्कृति की सुरक्षा हेतु कोई कार्य नहीं कर पा रही, ऐसी विषम परिस्थिति में हम सबको यह

कार्य अपने घर में ही करना होगा। हमारा घर भारतीय संस्कृति का आदर्श घर बनें, इसके लिए घर में सौहार्द एवं मित्रता की भावना, एकता की भावना, माता-पिता एवं अपने बडों की सेवा भावना, घर में आये अतिथि का उत्तम सत्कार, अपने घर में भारतीय संस्कृति की विशेषता की चर्चा करना, अपने बच्चों को भारतीय संस्कृति को अपनाने की प्रेरणा करना, संस्कृत, हिन्दी भाषा के प्रति जागरुक करना, वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि का महत्त्व बताना, अच्छे धार्मिक कार्यो में सहभागिता करना, परोपकार के कार्यो के प्रति उत्साह देना, देश एवं राष्ट्र के प्रति अपने बच्चों और लोगों को प्रेरित करना, पाखण्ड़ एवं अन्धविश्वास से बचने की शिक्षा देना, अपनी शिक्षा के प्रति बच्चों को उत्साहित करना, सबके साथ मित्रता का व्यवहार करना, अपनी भारतीय संस्कृति की महत्ता को सर्वत्र बताना, भारतीय वेश-भूषा का महत्त्व समझाना, हमारे पर्वो एवं परम्पराओं के वास्तविक महत्त्व को बताना इत्यादि कार्य अगर प्रत्येक भारतीय अपने घर में प्रारम्भ करें तो निश्चित ही हमारी संस्कृति सुरक्षित रहेगी और आने वाली पीढ़ी इसके महत्त्व को समझ पायेगी।

प्रिय पाठकों ! आज हमारी शिक्षाव्यवस्था पाश्चात्यपरम्परा का इतना प्रबल पोषण कर रही है कि आज हमारी युवा पीढ़ी छोटे-छोटे बच्चे हिन्दी भाषा के अंकों को नहीं समझ पा रहे है। वे अंग्रेजी आसानी से पढ़ सकते है पर हिन्दी नहीं पढ़ सकते हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में अगर हम नहीं समझ पाये तो एक दिन फिर संस्कृति को बचाने का अन्य प्रबल उपाय करना होगा।

कुरान, बाईबिल, गुरुग्रन्थसाहिब आदि धर्मग्रन्थों के अनुयायी अपने बच्चों को अपने धर्म ग्रन्थों की शिक्षा का ज्ञान घर पर ही देते हैं। वे लोग अपने धर्मग्रन्थों का बहुत आदर करते हैं। हम भारतीय तो वेदों को देख भी नहीं पाते है। वेदों को पढना तो दूर हम वेद की शिक्षा भी सुनना नहीं चाहते हैं। ऐसे में हमारी संस्कृति का विनाश नहीं होगा तो क्या होगा ? भारतीय लोगों ! उठो, जागो और अपनी संस्कृति को पहचानों। इसकी विशेषताओं को अपने जीवन में उतारो। भारतीय संस्कृति जीवन को सुख देती है। जीवन को आनन्दित करने का एक साधन है। यह संस्कृति वास्तव में जीवन जीना सिखाती है। एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों को बताती है। ऋग्वेद में कहा है कि '**पुमान् पुमासं परिपातु विश्वतः**' अर्थात् प्रत्येक मनुष्य एक-दूसरे की रक्षा करने वाला बनें। अथर्ववेद में कहा है कि-'**सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु**' समस्त दिशाओं में मेरे मित्र हो। मेरा कोई शत्रु न हो। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य भारतीय संस्कृति की विशेषता को बताता है तथा इस संस्कृति की दृढता और महत्ता को भी सूचित करता है। प्रिय पाठकों ! ये पंक्तियाँ भारतीयता को बढाने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके लिए हम सबको मिलकर प्रयास करना होगा।

'**आर्ष-ज्योतिः**' पत्रिका प्रत्येक मास में इस कार्य के प्रति जागरुक है। इसका प्रत्येक अंक भारतीयता के लिए समर्पित है। प्रस्तुत अंक शोध अंक के स्वरूप में आपके हाथों में है। यह पत्रिका सामान्य जन एवं प्रबुद्धजन दोनों की प्रिय है। दोनों प्रकार के पाठकों का ध्यान रखना हमारा कर्तव्य है। इसीलिए इस पत्रिका का प्रत्येक अंक जहाँ सरल सुबोध एवं वैदिक ज्ञान-विज्ञान का संवाहक होता है, वहीं इसका प्रत्येक तीसरा अंक शोध लेखों से परिपूर्ण होता है। जिसमें आपको शास्त्रीय ज्ञान का अवलोकन होगा। प्रस्तुत सम्पादकीय २०१३ के मासान्त दिसम्बर को परिलक्षित करके लिखा है। इस लेख की पंक्तियों से केवल हम इतना संकल्प लें कि ईशामसीह २०१४ के आगमन से हम अपनी संस्कृति की सुरक्षा का संकल्प लें। इसको सुरक्षित करने का उपाय करें। भारतीय संस्कृति को बढाने वाली संस्थाओं को सहयोग करें। इन्हीं शब्दों के साथ आपके विचारों की अपेक्षा में....

रवीन्द्र कुमार

रामायण काल में नारी का स्थान

❑ vkpk;l ;Kohj 0;kdj.kkpk;l

रामायण (वाल्मीकीय) के अध्ययन से स्पष्ट है कि वह वैदिकी मान्यताओं पर आधारित महाकाव्य है। वैदिक मान्यता के अनुसार नारी को उच्च स्थान प्राप्त रहा है। यजुर्वेद के बाईसवें अध्याय के बाईसवें मन्त्र जो वैदिक राष्ट्रिय प्रार्थना के नाम से विख्यात है का एक पद है ''**पुरन्धिर्योषा आ जायताम्** ''[१] इस का पद्यानुवाद है।''**अधार राष्ट्र की हों नारी सुभग सदा ही**'' । कहने का भाव है कि नारी ही राष्ट्रजीवन का सुदृढ़ आधार है। किसी हिन्दी के सहृदय कवि ने ठीक ही लिखा है–

नारी निन्दा मत करो ,नारी नर की खान।
नारी से ही ऊपजे ,बली गुणी सुज्ञान।।

शास्त्रकारों ने भी नारी महत्त्व प्रति पादन करते हुए लिखा–''**माता निर्माता भवति**''। मध्य काल में कुछ लोगों नें ''**नारी किम्? एकम् नरकस्य द्वारम्** '' कह कर नारी को नरक द्वार घोषित किया तथा अन्य निरर्थक बाते श्रुतिवचन बता कर प्रसारित कर दी ''**स्त्री शूद्रौ नाधियतामिति श्रुतेः**''[२] जिसने भी ये मनघडनन्त रचना प्रस्तुत की उसने अनादि नित्या भगवती श्रुति की ही अवमानना नहीं अपितु सम्पूर्ण मानवता का घोरतम अपकार किया है।

शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है–

'**शुद्धाः पूताः पोषिता यज्ञिया इमाः**' अर्थात् स्त्रियां शुद्ध हैं पवित्र है पूजनीय है और यज्ञ में पुरूष की अर्द्धाङ्गिनी है। पत्नी शब्द की व्युत्पत्ति भी यज्ञ में साथ होने के कारण मानी जाती है– आचार्य पाणिनि ने ''**पत्युर्नो यज्ञ संयोगे**''[३] सुत्र द्वारा इसकी पुष्टि की है। इनके बिना यज्ञ अपूर्ण है।

इसी वैदिक आधार पर स्मृतियों में भी नारी का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है–

पूजनीया महा भागाः पुण्याश्च गृहदीप्रयः।
स्त्रियः श्रियः गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या।।

विशेषतः महर्षि मनु के इस श्लोक का स्पष्ट अभिप्राय है कि स्त्रियाँ पूजनीय हैं, भाग्यशलिनी है, पवित्र है ,घर का प्रकाश हैं, गृह लक्ष्मी है, अतः उनकी रक्षा विशेष प्रयतन से करनी योग्य है। इसी महत्त्व को अन्य श्लोक द्वारा मुख्यतः इस प्रकार से घोषित किया है।

''**उपाध्यायदशाचार्य, आचार्याणां शतं पिता।**
सहस्त्रं तु पितृमाता, गौरवेणातिरिच्यते ।।

अर्थात् दश उपाध्यायो के बराबर आचार्य है, और सौ आचार्यो के बराबर पिता है, तथा एक सहस्र पिताओं से अधिक माता है अतः सिद्ध है कि माता या नारी का महत्व सर्वाधिक है।

सामान्य रुप से देखें तो रामायण काल में मातृशक्ति का बडा महत्व था। आर्यो की स्त्रियाँ पति की अर्द्धाङ्गिनी समझी जाती थी तथा उन्हें गृहलक्ष्मी या देवी नाम से पुकारा जाता था। जब तक स्त्री सम्मिलित न हो तब तक कोई यज्ञ सम्पन्न नहीं किया जा सकता था।स्त्री का इतना सम्मान था कि विवाहिता जब पति गृह आती थी तब राजा भी उसके लिए मार्ग छोड देता था। स्त्रियों को घर सम्बन्धी कार्यो में पूर्ण स्वातन्त्र्य था , स्त्रियाँ भी इतनी सुशील एवं सुसभ्य थी कि वे पति सेवा को ही अपना परम धर्म समझती थी। पति को वह परमेश्वर से दूसरे दर्जे पर मानती थी। और निज अस्तित्व को ही पति हेतु मानती थी। पति की आज्ञा के पालन को और पति को प्रसन्न रखने को वह अपना परम सौभाग्य समझती थी। वैसे तो यह नियम था कि बाहर के कार्य पुरुष और घर के कार्य गृहणी ही सम्पन्न करे किन्तु आवश्यकतानुसार स्त्रियाँ वेद प्रचार का कार्य भी करती थी कुछ स्त्रियाँ इतिहास प्रसिद्ध भी हुइ जिन्होने युद्ध में पुरुषों की भाँति पौरष प्रदर्शित किया है। स्त्रियोँ में पर्दा प्रचलन नहीं था और नही किसी पुरुष का साहस था कि पर स्त्री पर पापपूर्ण दृष्टिपात करें। आर्यो का नियम था स्वविवाहिता को छोडकर अन्य सभी स्त्रियों को माता,

भगिनि तथा पुत्रीवत् मानें पतिपत्नी का परस्पर प्रगाढ़ प्रेम रहता था पर दारा कांक्षा का अवसर ही नहीं मिलता था। जब बालक कुछ समझने योग्य हो जाता तब माता उसे घर पर ही शिक्षा देती थी, धर्मोपयोगी बातें बडे छोटों से बर्ताव, सभा में बैठने आदि के नियम बाल्यावस्था में ही बोध करा देती थी। इससे बालक असभ्य एवं दुर्व्यसनी नही होता था। नित्य कर्मो में स्त्री पति का सहयोग करती थी वह सास ससुर की सेवा व पूजा नित्य किया करती थी। तथा उन्हे प्रसन्न रखना अपना धर्म समझती थी। पति गृह गमन के समय वधू को माता पिता उपदेश देते थे कि अपने सास ससुर पति देवर अतिथि आदि को प्रसन्न रखना और अपने धर्म पर ऐसी आरूढ़ रहना कि प्राण जाये पर धर्म न जाए।

वाल्मीकि रामायण के पारायण से इस प्रकार के तथ्यों की पुष्टि में अनेक प्रमाण मिलते है उनका संक्षिप्त वर्णन इस लेख में करने का प्रयास है–

स्त्रियों का समानाधिकार तथा उनका सम्मान–

सन्ध्या प्राणायाम आदि का समानाधिकार भी स्त्रियों को प्राप्त था इस विषय में अयोध्याकाण्डं में कहा है–

'' प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमानाजनार्दनम्''[३]

अर्थात् ''रानी कौशल्या प्राणायाम के साथ परमात्मा का ध्यान करती थी'' इस कथन से स्पष्ट है कि स्त्री को स्वतन्त्र रुप से प्राणयाम पूर्वक ध्यान अर्थात् सन्ध्या करने का पुरुषवत् अधिकार था इसी प्रकार सन्ध्या के अतिरिक्त हवन का अधिकार भी स्त्री को प्राप्त था इस का वर्णन देखिए– **साक्षौम वसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।**

अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला।।

अर्थात्– वह कौशल्या रानी रेशमी वस्त्र सहित हवन करती थी। इससे हवन करने और मन्त्र पाठ करने का समानाधिकार समुपलब्ध है। इसी प्रकार अयोध्याकाण्ड के छटे सर्ग में प्रथम श्लोक दर्शनीय है–

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः।
सह पत्न्या विशलाक्ष्या नारायणमुपागमत्।।[५]

अर्थात् पुरोहित के प्रस्थान कर जाने पर राम ने अपनी विशालाक्ष पत्नी के साथ स्नान तथा नियतमन से परमात्मा की उपासना की।

इससे पत्नी को समान रुप से सन्ध्योपासना का समानाधिकार है। पति के साथ ही नहीं अकेले भी स्त्री को सन्ध्या का अधिकार है इस का वर्णन –सुन्दर काण्ड में बडा सुन्दर किया है–

सन्ध्या कालमना श्यामाध्रुवमेष्यति जानकी
नदीं चेमां शुमजलां सन्ध्यार्थे वर वार्णिनी।।[६]

अर्थात् हनुमान सोचता है–कि वह सन्ध्याशील सीता इस शुभजल वाली नदी पर सन्ध्या करने अवश्य ही आयेगी। इस कथन से स्त्री सन्ध्यास्वातन्त्र्य सुस्पष्ट होता है।

दीक्षा का अधिकार–

बालकाण्ड में राजा दशरथ के साथ पत्नियों ने भी दीक्षा ली इसका उल्लेख मिलता है–**''श्रीमान् सह पत्नीभिः राजा दीक्षामुपाविशत्''**[७]

अर्थात् महाराजा दशरथ ने पत्नियों सहित दीक्षा ग्रहण की। यहाँ दीक्षा में स्त्रियों का समानाधिकार प्रदशित किया गया है। किष्किन्धा काण्ड में लक्ष्मण का नारी सम्मान में अवाङमुख स्तब्ध खडा होना तथा क्रोध रहित होना वर्णित है–

स तां समीक्ष्यैव हरीश पत्नीं तस्तावुदासीनतया महात्मा।अवाङ्मुखोऽमून् मनुजेन्द्रपुत्रः स्त्रीसन्निकर्षाद् विनिवृत्तकोपः।।[८]

परिव्रत धर्मवत् पत्निव्रत धर्म भी कहा है–

सुन्दर काण्ड में राम कहते है–

''मोघं हि धर्मश्चरितो मयायं तथैकपत्नीत्वमिदं निरर्थकम्।[९]

अर्थात् मैने व्यर्थ ही धर्मका आचरण किया और यह एकपत्नीव्रत भी निरर्थक रहा। सीता हरण के बाद राम विलाप में ऐसा वर्णन है। इन सभी प्रसङ्गो से नारी गौरव की पवित्र भवना परिपुष्ट एवं सुस्पष्ट होती है।

स्त्री शिक्षा और सदाचार

सभ्य एवं आदर्श समाज वही माना जाता है कि जिस समाज में स्त्रियाँ भी सुशिक्षिता शीलवती पतिव्रता और

स्वार्थ त्यागिनी हों। इसमें वैमनष्य का कोई अवकाश नहीं है। किसी समाज में केवल अकेला पुरुषवर्ग ही सुशिक्षित हो तो उस समाज को पूर्णतया सभ्य या आदर्श समाज नहीं कह सकते। क्योंकि समाज का अर्ध भाग स्त्रीवर्ग है वह जब तक सुशिक्षित नही होता तब तक समाज की सभ्यता पूर्वत्व को प्राप्त नही हो सकती। रामायणकालीन स्त्रियां कैसी सुशिक्षिता होती थी यह सीता एवं स्त्री पात्रों के चरित्र के पर्यालोचन से स्पष्ट हो जायेगा। सीताव्रत स्नातिका ब्रह्मचारिणी थी सीता की माता धरणी ने शिशु अवस्था में ही सीता को सुसंस्कृत किया था जिसकी छाप हम सीता के सम्पूर्ण जीवन में पाते है। नारीरत्न सीता की सुशिक्षा पति परायणता व्यवहार कुशलता धार्मिकता उत्कृष्ट कोटि की है । रामायण काल मे न केवल आर्य देवियाँ अपितु वानरी एवं राक्षसी स्त्रियाँ भी अति विदुषी और सुशिक्षिता थी इस प्रसगं में हम प्रथमतः वानरराज बाली की स्त्री तारा के विषय में विचार करते है।

श्रीराम के बाण से मर्माहत होकर जब बाली पृथिवी पर गिर पडा तब सुग्रीव अङ्गद तारा और हनुमान जी आदि अन्य वानर मन्त्री उसके पास इक्ठ्ठे हुए। बाली राज्य सौपने के चिह्न स्वरुप अपने गले की काँचनी माला सुग्रीव के गले में पहनाता है और अनन्तर राज्यतन्त्र चलाने का अन्तिम परामर्श देते हुए तारा को लक्ष्य कर सुग्रीव को कहता है –

सुषेणदुहिता चैषा अर्थ सूक्ष्मविनिर्णये।
आत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता ।
यत् एषा सध्विति ब्रूयात् कर्त्तव्यं मुक्तसंशयम्।
नहितारामतं कञ्चित अन्यथा परिवर्तते।।३।।[१०]

अर्थात्–हे सुग्रीव! सुषेण पुत्री यह तुम्हारी भाभी अत्यन्त सूक्ष्म और पेचीले राजकीय प्रश्नों का निर्णय करने में तथा अनेक राजनैतिक गुत्थियों को सुलझाकर राजतन्त्र को सुव्यवस्थित करने में अत्यन्त निपुण है जिस कार्य में इसकी अनुमति होगी वह कार्य तुम निस्सन्देह करते जाना उसमे कभी असफल नही रहोगे। यदि मैंने भी इस समय तारा का कथन माना होता तो मेरी ऐसी दुर्दशा कभी न होती। ऊपरि लिखित वर्णन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राजसभा में अत्यन्त विश्वास पात्र ऐसी श्रेष्ठ मन्त्री की योग्यता रखने वाली सुशिक्षिता स्त्री वानर समाज में थी। अब तारा की पति परायणता और स्वार्थ विमुखता का नमूना देखिए–बाली के मर्माहत होने पर वानरो में भगदड मच गयी तारा के कानो में यह वार्ता आते ही वह दौडती रणक्षेत्र में पहुँची जहाँ बाली मरणोन्मुख पडा था उस समय मन्त्रियों ने उसे समझाया कि हे महारानी आप लौट जाए और अंगद की रक्षा करें नगर रक्षा का पूर्णप्रबन्ध करके युवराज अंगद को शीघ्रता से राजसिंहासन पर स्थापित कर दे हम सब आपके सहायक हैं शत्रु पक्ष का आक्रमण नगर पर हो सकता है यह सुन कर तारा ने जो उत्तर दिया वह दर्शनीय है–

पुत्रेण मम किं कार्यं राज्येनापि किमात्मना।
कपिसिंहे महाभागे तस्मिन् भर्तरि नश्यति।।१८।।
पादमूलं गमिष्यामि तस्यैवाहं महात्मनः
योऽसौ राम प्रमुक्तेन शरेण विनिपातितः।।१९।।[११]

अर्थात्–वे महाभाग कपिश्रेष्ठ मेरे पतिदेव मृत्युशय्या पर पडे हैं और मेरा सौभाग्य उन्हीं के साथ नष्ट हो रहा है। अब मुझे पुत्र और राज्य से क्या प्रयोजन? श्री राम के बाण से मेरे पतिदेव रण में आहत हुए है मैं तो इन्हीं के चरणों में अपना शरीर समर्पण कर दूंगी। यह कह कर तारा बाली के शरीर पर पछाड़ खा कर गिर पडी धन्य है यह पतिव्रत्य धर्म! आगे वह कहती है पुत्र का ऐश्वर्य राजमाता का मान सम्मान, सम्पूर्ण राष्ट्र का सर्वाधिकार इत्यादि का प्रलोभन जो जो तुम मुझे दिखा रहे हो वह सब वृथा ही है क्योंकि पति हीन स्त्री यद्यपि कई पुत्रों वाली हो, धनधान्य से समृद्ध हो, तथापि विधवा ही कही जाती है सुहागिन कोई नहीं कहता। देखिए यह कितनी पतिनिष्ठा एवं स्वार्थ त्याग है। राजमाता का मान सारे वानरराष्ट्र का सर्वाधिकार सब मन्त्रियों की अनुकूलता ऐश्वर्य एवं तज्जन्य सर्वसुखोपभोग इत्यादि सब को तुच्छ मान कर अपने जीवन को तृणवत् समझकर जो साध्वी अपने मृतपति के चरणों का वरण करती है उसके त्याग

की आत्मसुखविमुक्ता की धैर्य की तथा पति प्रेम की जितनी प्रशंसा की जाए उतनी थोडी है। इस प्रकार स्वार्थत्याग करने वाली आत्मसुख, पराङ्मुखी, पतिपरायणा, राज्यसभा के मन्त्रिमण्डल में भी श्रेष्ठता पाने योग्य तारा सदृश सुशिक्षिता स्त्रियाँ जिस वानर समाज में जन्म लेती थी वह वानर समाज यदि बर्बर असभ्य या जगंली कहा जाने योग्य हो- तो एक पति के साथ यथेष्ट सुख प्राप्त न होने पर उसे छोड दूसरा धनाढय पति वरण करने वाली स्वार्थ सिद्धि न होने पर तीसरा लक्ष्मी पति या राजपुत्र वरण करने वाली केवल विषय सुखभोगलोलुपा स्वार्थ परायणा पतिव्रता स्त्रियाँ जिस समाज में मुहँ ऊँचा उठाकर प्रतिष्ठा के साथ संचार कर सकती हैं क्या वह पाश्चात्य समाज सभ्य कहा जाने योग्य है ? क्या उस समाज की नारियाँ कथित पतिव्रता एवं सुशिक्षिता कही जा सकती है?

अब राक्षस समाज की स्त्रियों की शिक्षा संस्कृति का आदर्श भी द्रष्टव्य और अनुकरणीय है- रावणपत्नी मन्दोदरी का तो पतिव्रत अतिप्रसिद्ध है उत्तर काण्ड में कुम्मीनसी नाम की राक्षसी का उल्लेख है। यह रावण की मौसेरी बहन और उसकी बडी दुलारी थी। रावण की अनुपस्थिति में मथुरा नरेश मंघु दैत्य उसे ले गया। ज्ञात होने पर रावण वहाँ विमान द्वारा जा पहुँचा। कुम्मीनसी रावण के चरणों में गिर पड़ी।रावण के मुख से प्रेमवश स्वाभाविकतया ''सौभग्यवती भव'' का आशीर्वाद निकल पड़ा और फिर उसने कुम्मीनसी को मनवाच्छित वर मांगने को कहा। प्रिय पाठको! कुम्मीनसी ने रावण से क्या वर मागँा होगा? आपकी क्या कल्पना है, यदि वह इन्द्र का ऐश्वर्य, कुबेर की धन सम्पदा अथवा वरुण की अक्षय निधि रावण से मागंती तो रावण उसे देने में समर्थ था। परन्तु उसने इनमें से कुछ नहीं मांगा। उसने किसी प्रलोभन में न पडते हुए रावण से दैन्य पूर्वक प्रार्थना की-

भर्त्तारं न ममेहाद्य हन्तुमर्हसिमानद।
नहीदृश भयं किञ्चित् कुलस्त्रीणामिहोच्यते।।३२।।
भयानामपि सर्वेषां वैधव्यं व्यसनं महत्।
सत्यवाग् भव राजेन्द्र मा अवेक्षस्व याचतीम्।।३३।।[१२]

अर्थात्-प्रिय भ्रात! मेरे पति का वध न करो। कुल स्त्रियों के लिए सर्व भयों की अपेक्षा वैधव्य भय महाभयानक होता है अतः मुझे केवल सुहाग की भिक्षा दो और अपना वचन सत्य कर दिखाओ रावण ने ''एवमस्तु'' कहा तब सन्तुष्ट कुम्मीनसी अपने पति के पास गई और रावण से मैत्री करादी इस प्रकार राक्षस समाज की नारियां भी सुशिक्षिता पतिपरायणा स्वसुखेगतस्पृहा थी।

उपरि लिखित विवेचन से रामायण कालीन स्त्री समाज के अन्दर वैदुष्य,दाक्षिण्य,सौहार्द,पतिपारयणता, सुशीलता आदि विविध गुणों का समावेश मिलता है। और वैदिक धर्मावलम्बी तो मनु के इस श्लोकानुसार मानते आये है-

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।[१३]

-गुरुकुल-पौन्धा, देहरादून (उ०ख०)

सन्दर्भ सूचीः-

१. यजुर्वेद-अध्याय-२२, मन्त्र-२२।
२. सत्यार्थप्रकाश तृतीयसमुल्लास।
३. अष्टाध्यायी-३.१.३३।
३. वाल्मीकीयरामायण अयोध्याकाण्ड-३.३३।
५. वाल्मीकीयरामायण अयोध्याकाण्ड-६.१।
६. वाल्मीकीयरामायण सुन्दरकाण्ड-१५.३९।
७. वाल्मीकीयरामायण बालकाण्ड-१३.३१।
८. वाल्मीकीयरामायण किष्किन्धाकाण्ड-३.३९।
९. वाल्मीकीयरामायण सुन्दरकाण्ड-२८.१३।
१०. वाल्मीकीयरामायण किष्किन्धाकाण्ड-२२.1३,१३।
११. वाल्मीकीयरामायण किष्किन्धाकाण्ड-१९.१८,१९।
१२. वाल्मीकीयरामायण उत्तरकाण्ड-२५.३२,३३।
१३. मनुस्मृतिश्रीसत्यकामभाष्य देहाती पुस्तक भण्डार चाबड़ी बाजार, दिल्ली अध्याय-३.३६।

भर्तृहरेर्विवर्तवादस्य तत्त्वम्

- डॉ. ओमनाथ बिमली

प्रस्तावना

व्याकरणदर्शनस्य पुरोधास्तत्र भगवान् भर्तृहरिः कार्यकारणवादस्य मीमांसायां विवर्तवादं प्रवक्तीति तत्त्वं वाक्यपदीयपठिता विविधाः कारिकास्तदन्तर्वर्तिनः कतिपये शब्दास्तत्रत्यानि चान्यानि प्रभूतानि साक्ष्यभूतानि साधनानि स्फुटं प्रमाणयन्ति। परं भर्तृहरिप्रस्तुतस्यास्य विवर्तवादस्य किं तत्त्वमिति विषयमधिकृत्य शब्दाद्वैतवादिनः प्रमातारो निरन्तरं विप्रवदन्तो अवलोक्यन्ते।

भर्तृहरिदर्शनविदां विपश्चितामेके साङ्ख्य- परिणामवादस्यालोकेन तद्विवर्तवादं विवरीषन्ति। केचन तत्तत्वं शाङ्करविवर्तवादमिववातत्त्वतोऽन्यथाप्रथात्मकं सङ्गिरन्ते।

अन्ये केचन तु काश्मीरशिवाद्वयवादस्याभासवादिना कारणातासिद्धान्तेन सहाप्यस्य साम्यमाधित्सन्ते।

भर्तृहरेः कारणमान्यतामधिकृत्य विद्वत्सु प्रवर्तमानस्य गहनतरस्यास्य प्रकृतमतभेदस्य मूले तत्प्रयुक्तो 'विवर्त' शब्दो वरीवर्ति।

भारतीयदर्शनेऽधीतिनां सुविदितमेवैतद्यद् वेदान्तप्रस्थाने दृश्यमानानुभूयमानस्यास्त्विमात्रस्य ब्रह्मणोऽतात्त्विकीमन्यथा- प्रथात्मतां प्रपित्सुभिर्विवर्तशब्दः प्रयोयुज्यते। तदयं विवर्तशब्दो दर्शनतन्त्रे परिणाम शब्दस्य प्रतिद्वन्द्विशब्दत्वेन व्यवह्रियत इत्यपि च नाविदितमस्ति दर्शनदृष्टिजुषां विदुषाम्। भर्तृहरिरप्यात्मनः परमतत्त्वं शब्दात्मकम् उत्पत्तिविनाशरहितमक्षरं च प्रतिपाद्य शङ्कर- वत्तस्मादेव सकलजगत्प्रक्रियाया विवर्तनमाजुघोष।[१] वाक्यपदीयस्यैकस्यां कारिकायां स समग्रं जगच्छन्दसो विवर्तमाह। तत्प्रयोगमवलोक्य भर्तृहरेर्विवर्तवादो वेदान्ताभिप्रेतो विवर्तवाद इवास्तीति साधरणमनसो नैसर्गिक्यनुमितिरुदेति। परं भर्तृहरिप्रयुक्तः परिणाम शब्दो भूयोऽपि विवर्तशब्दस्य याथार्थ्यविषयेऽध्येतुर्जिज्ञासुनि मनसि शङ्कामाविर्भावयति। नेहैव नः समस्या विराममुपयाति; कासुचित्कारिकासु हरिर्जगत्प्रपञ्चं परिणाममपि ब्रूते। न च केवलमेतावदेव, एकस्यां कारिकायां तु स कारिकायाः पूर्वार्द्धे जगच्छब्दब्रह्मणः परिणामं तदुत्तरार्द्धे च विवर्तं प्रतिपादयति।[२]

एतस्यामवस्थायां किञ्चिल भर्तृहरेर्विवर्तवादस्य याथार्थ्यम्? किमसौ वादः शाङ्करविवर्तवादवदतात्त्विकान्यथाभाववादिनं सिद्धान्तं प्रतुष्टूषत्याहोस्वित् साङ्ख्य- वत्तात्त्विकान्यथाभाववादिनं सिद्धान्तम्? किमयं तस्मात् सिद्धान्तद्वयाच्छिन्नं कञ्चनान्यं सिद्धान्तं पुष्णात्याहोस्वित् सर्वेभ्यस्तेभ्यो भिन्नमन्यमेव कञ्चन वादविशेषमित्यध्येतुर्जिज्ञासावति मनसीह निर्णयसम्बन्धिनी काचन विचिकित्सा समुदेति। अस्तु, अनेन विवरणेन भर्तृहरिप्रयुक्तौ विवर्तपरिणामशब्दौ समानं कञ्चनैकमर्थमभिदधत इति तु गतार्थमेव। प्रमाण- परम्परामवलम्ब्य विद्वांसः शङ्करप्रयुक्तस्य विवर्त शब्दस्य मिथ्याज्ञानरूपमतात्त्विकपरिणामरूपं वार्थमस्य मूलार्थस्यार्थसङ्कोचं ब्रुवते।

शङ्करात्प्रागयं शब्दस्तात्त्विकपरिणामरूपेऽर्थेऽपि व्यवह्रियमाणो दृक्पथमापतति। तदेवमयं शब्दः प्राचीनसाहित्ये परिणामसामान्यमर्थमभिव्यानञ्ज। सप्तम्यां शताब्द्यां कविर्भवभूतिरुत्तररामचरिते तात्त्विकपरिणामार्थे विवर्त शब्दं प्रयुयुजे।[३] साङ्ख्यमतं संकेतयन् भगवान् शङ्कराचार्योऽप्येकत्रैतं शब्दं परिणामपर्यायत्वेन प्रयुङ्क्ते।[४] अस्तु, 'विवर्त' पदार्थस्य एनं विनिश्चयाभावं समाश्रित्य सांख्यमतानुयायिनो वेदान्तमतानुयायिनोऽन्यमतानुयायिनश्च विद्वांसो भर्तृहरिदर्शनं तत्तत्सिद्धान्तप्रकाशे प्रकाश्य व्याख्यातवन्तः।

अधस्ताद्वर्तमानेष्ववतरणेषु वयमिह भर्तृहरेर्विवर्तवादं प्रति विदुषां दृष्टिवैभिन्न्यस्य समीक्षां प्रस्तुमः-

भर्तृहरेर्विवर्तवादः शाङ्करविवर्तवाद इवेत्ययं पक्षः-

प्रो० गौरीनाथशास्त्री भर्तृहरिं शङ्करवद्विवर्तवादिनं प्रतिपादयतोऽधोवर्तिनः पक्षान् समुद्धरति -[५]

१. शब्दकौस्तुभकारो भट्टोजिदीक्षितोऽधिशब्दस्वरूपं भाषमाणो दृश्यमानस्य जगत्प्रपञ्चस्य विवर्तमयतां प्रतिपादयति।

२. सर्वदर्शनकारः श्रीमन्माधवाचार्योऽपि व्याकरणदर्शनं विवर्तवादितन्त्रमाह। साङ्ख्यीयं परिणामवादं समालोचनपरः सः स्वग्रन्थे ''परिणामसिद्धान्ते प्रतिपक्षित्वेनोपस्थिते विवर्तवादः कथङ्कारं सम्मानितः स्यादिति ब्रुवन् स्वविचारान् प्रस्तौति।

३. भवभूतिरुत्तररामचरिते भर्तृहरिसिद्धान्तं शाङ्करविवर्तवादिनमनुमापयति।

४. प्रभाकरशालिकनाथावपि वैयाकरणान् विवर्तवादस्य प्रवक्तॄन् ब्रूतः।

५. श्रीमन्नारायकणकण्ठो वेदान्तमतप्रत्याख्यानमना भर्तृहरिः विवर्तवादस्य पोषकत्वेन निरूपयति।

भर्तृहरेर्विवर्तवादः सांख्यपरिणामवाद इवेत्ययं पक्ष

विद्वांसो भर्तृहरिदर्शनस्य परिणमपरकमपि व्याख्यानमुपस्थापितवन्तः। अस्य साक्ष्यमुद्धरतां प्रो० गौरीनाथशास्त्रिणां[६] मतौ वाचस्पतिजयन्तभट्टशान्तरक्षितानां कालं यावद् भर्तृहरिविवर्तवादस्य द्विविधा व्याख्या क्रियमाणा दृक्पथमवतरति। तत्रैका व्याख्या शाङ्करविवर्तवादस्यालोकेऽपरा च परिणामवादस्यालोके वर्तते। तद्यथा,-

६. वाचस्पतिर्न्यायकणिकायां परिणामवादिनो विवर्तवादिनश्च शब्दब्रह्मणो दर्शनं स्वदर्शनसिद्धान्ते सिद्धान्तीकृत्य प्रतुष्टावेति स्वमतं व्याजहार।

७. व्याकरणदर्शनं विवर्तवादिदर्शनं मन्वानः श्रीजयन्तभट्टः स्वीयायां न्यायमञ्जर्यामदः परिणामवादिदर्शनं विवक्षूणामाचार्याणामपि मतानि समुद्धरति।

८. बौद्धबुधः शान्तरक्षितोऽपि तत्त्वसंग्रहे भर्तृहरिदर्शनस्य द्विविधाया व्याख्यायाः सम्भावनामभिव्यनक्ति।

भर्तृहरेर्विवर्तवादः काश्मीरशिवाद्वयवादस्याभासवाद इवेत्ययं पक्ष :-

आधुनिकसमयस्य व्याकरणादिविविधदर्शनतत्त्वविदाचार्यः प्रो० गौरीनाथशास्त्री शाङ्करविवर्तवादस्यालोके विधीयमानां व्याख्यां शाङ्करदर्शनप्रत्तमतीनां शङ्करपरवर्तिनां विदुषां पक्षपातयुतं विवेचनं मनुते।[७] तन्मतौ भर्तृहरेः स्फुटवचसि क्वचिदपि जगतो मिथ्यात्वं नैव प्रतिपन्नमस्ति। भर्तृहरिः सृष्ट्युत्पत्तिप्रसङ्गे शब्दब्रह्मणः शक्तित्वेन कालाख्यायाः शक्तेश्चर्चां विदधाति। परं हेलराजस्तया सार्धं सृष्ट्युत्पत्तयेऽविद्याशक्तिमप्यपरिहार्यां ब्रूते। वेदान्तप्रोक्तामविद्याशक्तिं शब्दब्रह्मणापि संयोज्य भर्तृहरिदर्शनस्य व्याख्यायास्तदयं हेलराजप्रयासो नूनं शङ्करमतस्य प्रतीक्षायामनुवर्तते। श्रीमच्छास्त्रिणो बलवद्युक्तीरुपस्थापयन्तो भर्तृहरिदर्शने कालतदधीनान्यसहकारिशक्तीनां निर्विवादं सत्यत्वं साधयन्ति। व्याकरणतन्त्रे शक्तीनां शब्दब्रह्मणा सह तादात्म्यं प्रतिपादितमस्ति; तस्माद्यावत् कालशक्तेरन्यासां ब्रह्मशक्तीनां च मिथ्यात्वसाधकानि भर्तृहरिवचांसि प्रमाणत्वेन नोपादानीक्रियन्ते तावत् भर्तृहरिविवर्तवादशाङ्कर-विवर्तवादयोरभिप्रायार्थे सादृश्यप्रतिपत्तिर्नैव सम्भवति। भर्तृहरिर्भावाभावरूपस्य जागतिकपदार्थमात्रस्यायथार्थतायाः सिसाधयिषया प्रबलया युक्तिपरम्परया कार्यकारणसम्बन्धिनोरसत्कार्यवादसत्कार्यवादसिद्धान्तयोः प्रत्याख्यानं विधत्ते। स हि कार्यस्य वस्तुसत्तामेव वस्तुतोऽवास्तविकीमाह। अधस्तनेष्ववतरणेषु वयं न्यायवैशेषिकसम्मतमसत्कार्यवादिमतं सांख्यसम्मतं सत्कार्यवादिमतं च प्रत्याख्यानपरा भर्तृहरियुक्तीर्यथायथं समीक्ष्य तद्विवर्तवादस्य याथार्थ्यं किमस्तीति प्रश्नमधिकृत्य विचारान् प्रस्तोतुमीहामहे।

असत्कार्यवाद प्रत्याख्यानं

विवर्तवादिनो व्याकरणदर्शनस्य कार्यकारण-वादस्यारम्भवादिना सिद्धान्तेन सह विरोधो नानैसर्गिकः। वैशेषिकप्रस्थानप्रख्यापितेऽस्मिन्नारम्भवादिनि कारणता-सिद्धान्ते परमाणूनांशब्द प्रत्येकं कार्यस्योपादनत्व-प्रतिपादनाद्व्याकरणदर्शने च तेषां यथार्थसत्ताया एव निराकृतत्वाच्च। न्यायवैशेषिकस्यासत्कार्यवादेऽभावस्य भावात्मके भावस्य चाभावात्मके कार्ये परिणतिरङ्गीक्रियते। भर्तृहरिरिदमसम्भवं ब्रूते। सः इमं वादं स्वप्रखरतर-तर्कैर्निरस्यति। तथाहि प्रागभावरूपोऽभावो विनाशमापद्य भावो नैव भवितुमर्हति भावाभावौ हि परस्परं सर्वथा

विरोधिन्यौ द्वे वस्तुसत्ते। अथच सर्वथा विरोधिनो: पदार्थयो: कार्यकारणता न कथमप्युपपद्यते। न भावोऽभावस्योपादानं भवितुमर्हति। भावश्चाथैवं विनाशमापद्यं कथञ्कारमपि प्रध्वंसाभावरूपं कार्यं नैव भवति, भावप्रध्वंसाभावयोरपि सर्वथा परस्परमत्यन्तविरधिनो: पदार्थयो: सत्त्वात्।[८] भर्तृहरिरेवं भावाभावयोरुभयोरपि तात्त्विकीं यथार्थतां निराकरोति। तद्बुद्धावेकं परमतत्त्वमेव वास्तविकं तत्त्वमस्ति। भावाभावावुभावपि तस्मादद्वैततत्त्वादभिन्नौ स्त:। तयोर्नास्ति तस्माद्विश्लिष्टं किमप्यस्तित्वम्। अविद्यातत्त्वं भावाभावयो: पदार्थत्वेन प्रमातृषु मिथ्याप्रतीतिं भावयति।

भर्तृहरे: अनुसारं कार्यं चेदुत्पत्ते: पूर्वमभावरूपं नीरूपं वा स्यात्तर्हि कारणव्यापारेण तस्य भावात्मके कार्ये परिणति: कथं सम्भवति? कार्यास्तित्वायैव कारणं प्रवर्तत इति हेलाराज:। यदि हि कार्यमुत्पत्ते: पूर्वमसत् स्यात्तर्हि तस्मादसद्रूपस्य वस्तुनो नि:स्वरूपत्वाद्वन्ध्या-सुतादिवत्तस्मादिदमप्युद्देश्यं नैव सम्भवेत्। उद्देश्य-वस्तुनोऽभावे किमुद्दिश्य कारणं प्रवर्तेत? तथा हि सद्रूपां जातिमुद्दिश्य कारणप्रवृत्तिर्न सम्भवति; जातेर्नित्यत्वात्। न च जातिव्यक्त्योरभेदं प्रतिपाद्य कारणप्रवृत्ते: समाधानं वक्तुं शक्यते; कार्यपदेनेह व्यक्त्यात्मना घटव्यक्तेर्योऽभावस्तस्यैव कार्यरूप आनयनस्य सत्त्वात्। हेलाराजोऽसत्कार्यवादस्य प्रत्याख्याने सांख्यप्रक्ता: युक्तीरेव प्रायेण प्रस्तौति। तथा हि कार्यं चेत्कारणेऽसत्तर्ह्यविशिष्टाद-नुपाधिमतोऽसत: कार्यमुत्पद्येत, तस्मिन् कथंविधस्यापि कारणस्य स्वीकृतिर्नावश्यकी स्यात्। तथा सति सिकतातोऽपि तैलरूपं कार्यमुत्पद्येत। न च नियतशक्तिसम्पन्नात्कारणादेव नियतमेव कार्यमुत्पद्यते न चात्र सिकतायां तैलरूपकार्यजननयोग्याया नियतशक्तेरसम्पन्नत्वात्तैलरूपकार्यानुत्पत्तिरिति वाच्यम्; कारणं नियतशक्तिसम्पन्नं भवतीति कस्यापि नियामकस्य मापकस्य वाऽविद्यमानत्वात्। 'तस्मिन् सति सद्भावात्' इति चेन्न कारणे कार्यस्यात्यन्तिकेऽसत्त्वे सति 'तस्मिन् सति सद्भाव:' इति वचनस्यायौक्तिकत्वात्। हेलाराजानुसारम् सत्कार्यवादिनश्चेदत्र नियतशक्तिसम्पन्नात्कारणान्नियतं कार्यमुत्पद्यमानं प्रतीयते, तस्माच्चेदं निश्चीयत इति ब्रुयुस्तर्हि अनेन विवर्तवादस्यैव सिद्धिर्भवति।

यद्येवं कथं न पुनस्तेऽसत्कार्यवादिन उत्पत्ते: पूर्वमसत: कार्यस्य कारणप्रविष्टत्यनन्तरं भ्रान्तिरूपं प्रतीतिमात्रमुररीकुर्वन्ति। कार्यकारणभावस्याङ्गीकारे वस्तुतो नास्ति किमपि तत्त्वम्।

सत्कार्यवाद प्रत्याख्यानम्

व्याकरणदर्शनमसत्कार्यवादेन सममेव सत्कार्यवादमपि सयुक्ति खण्डयति। तदनुसारं कार्योत्पत्ते: प्राक्कार्यं सन्मत्वा कारणव्यापारेण चेत्तदुत्पत्तिरङ्गीक्रियेत तर्हि कार्यव्यापारस्य का स्यादर्थवत्ता? कार्यं चेदुत्पत्ते: पूर्वं सत्स्यादुत्पत्त्यनन्तरं च सदेव तर्हि कारणेनात्र किं विशिष्टमनुष्ठितम्?[९] सत्यपि कारणव्यापारे यदि नाम तत्र काचनापूर्वता नैवोपलभ्येत तर्हि कोऽर्थस्तस्य व्यापारस्य? कारणव्यापारोऽनभिव्यक्तसतोऽभिव्यक्तिं भावयतीति चेन्न, तथा हि, किं सा तेषामभिव्यक्ति: कारणव्यापारात् प्राक् सद्रूपाऽसद्रूपा वा? यदि ह्यभिव्यक्तिरसौ कारणव्यापारात् पूर्वं सत्त्वेनोपस्थिता तर्हि कारणव्यापारस्य प्राग्वदनुपपत्ति: सिध्यति,तेन हि कस्याप्यपूर्वस्य प्राप्तेरप्रसिद्धत्वात्। अथ चायं कार्यव्यापार: सदनभिव्यक्तामभिव्यक्तिमेवाभिव्यनक्ति तस्मादस्यार्थवत्तात्र सर्वथा प्रसिद्ध्यत्येवेति चेन्; तत्तदभिव्यक्तीनामभिव्यक्त्यर्थं पुन: पुनस्तस्यैव प्रश्नस्योपस्थित्यानवस्थादोषप्रसक्ते:। सेयमभियक्तिर्यदि कारणव्यापारात्प्रागसद्रूपा तर्ह्यसतोऽभिव्यक्तेरसत्कार्यवाद: प्रसज्यते। यदि घटपटादिकार्यस्याभिव्यक्तिरेव कारणव्यापारस्य फलं तर्हि वास्तविककार्ये कार्यताया अनुपलब्धत्वात्ततोऽपि गुरुतरो दोष आपद्येत। यद्यत्र सत्कार्यवादिन: कारणात्कार्यस्योत्पत्तिं न मत्वा कारणात् सर्वथा पृथग्वस्तुत्वेन कार्यस्याभिण्यंक्तेरुत्पत्तिस्वीकारे तत्कारणस्य तत्कार्यकारणत्वमर्थहीनं स्यात्तस्मात्कार्यसम्बद्धाभिव्यक्ते: कारणात् कार्यमुत्पद्यत इति ब्रूयुस्तर्हि जन्यजनकयोरभिव्यक्तिकार्ययो: क: सम्बन्ध:? यद्ययं सम्बन्ध: कार्यकारणतावादसम्बन्धस्तर्हि कार्यादेव तदभिव्यक्त्युत्पत्ते:; कारणे कार्यजन्याभिव्यक्तौ कार्यविधायक: कारणव्यापार: कथं प्रसिद्ध्येत?

यद्यभिव्यक्तिः कारणव्यापारेणाभिव्यक्तात्कार्यादनन्या तर्हीयं कार्यान्नातिरिच्येत। यद्यभिव्यक्तिः कार्यमभिप्रैति तर्ह्यसत्कार्यवादस्य पुनः प्रसक्तिः कथं स्यात्।

एताः युक्तीराधारीकृत्य वैयाकरणाः सत्कार्यवादासत्कार्यवादावुभौ खण्डयन्तो वास्तविकस्य कार्यकारणभावस्यानुपपन्नतां प्रतिपादयन्ति। डॉ० वीरेन्द्रशर्माणो विषयममुं विशदीकुर्वाणादेवं वास्तविककार्यानुपपत्तेस्तस्य वस्तुसत्ता नैव सिध्यतीति ब्रुवन्ति। [१०] परं तथापि कार्योपलब्धिः सर्वजनसंवेद्या वर्तते। तस्याः प्रतिषेधो बुद्धौ न प्रसिध्यति। भर्तृहरेरनुसारेण कारणरूपेणाभिमतस्यैकस्य प्रतिनियतस्यार्थस्य सत्त्वे कश्चन स भावोऽनुभूयते यस्तस्मिन् कारणे प्राङ्नावर्तत। अनेनोपलब्धकार्यरूपभावस्यावास्तविकता स्वयं सिध्यति। अनुत्पन्नस्योपलब्धिरेव मिथ्यात्वं रज्ज्वां सर्पोपलब्धि वत्। तदेवमिहानुपपन्नानां भावानामुपलब्धिः सङ्केत्यते। भर्तृहरिरिह कारणस्य वस्तुसत्तामपरिहार्यां मन्वानस्तस्मिन् वास्तविकानां कार्यभावानामनुपपत्तिं बुभुत्सतीति। श्री शर्मणामभिमतम् एकस्मिन् कारणरूपे वस्तुसत्त्वाधि करणेऽवास्तविकानां कार्याणामुपलब्धिरेव विवर्तवादः तस्माद्भर्तृहरेर्विवर्तवादो 'विवर्तवाद' एवेति स्पष्टतरो निष्कर्षः।

भावाभावनिषेधपुरस्सरं विवर्तवादो उपस्थापनं

भर्तृहरिर्भावाभावरूपे उभे अपि दृश्यमानतत्त्वे आत्मतत्त्वानतिरिक्ते ब्रूते। स भगवान्नात्मतन्त्र उभयोर्भावाभावयोस्तात्त्विकीं यथार्थतां निराकृत्य विवर्तवादं प्रतिष्ठापयति। अभावस्य पदार्थत्वव्यवस्था मूलतो न्यायवैशेषिकदर्शनस्य व्यवस्थाऽस्ति। तदनुसारं प्रत्येकं वस्तुनोऽभावरूपे पदार्थे सत्यनन्तपदार्थविषयकानामनन्तानामभावानामस्तित्वं प्रसिध्यति। 'घट' भावस्यास्तित्वात्प्रागनादिकालं यावत्तस्य स्वयंसिद्धो योऽभावोऽवर्तत स तस्य प्रागभावोऽस्ति। घटादिपदार्थानां नाशे च घटमानस्तेषां योऽभावः सः प्रध्वंसाभावोऽस्ति। व्याकरणदर्शनममुष्याभावस्य पदार्थत्वं नैवोररीकरोति। भर्तृहरिमते स्वभावविरुद्धत्वादभावो भावे भावश्चाभावे कदाचिदपि न परिणमेते। द्वैतवादिनि न्यायवैशेषिकतन्त्रे भावाभावौ परस्परं स्वतन्त्रौ पदार्थौ स्वीक्रियेते। भर्तृहरिवचसि न्यायवैशेषिकदर्शने व्याख्याताविमौ भावाभावौ परस्परमत्यन्तविरोधिनौ पदार्थौ स्तः।[११] परस्परं सम्बन्धरहितयोरत्यन्तविरोधिनोः पदार्थयोर्यौगपद्ये न काचन बाधा भवति,; परस्परमत्यन्तभिन्नयोर्यौगपद्यस्यास्मदनुभूतिविषयत्वात्। घटसत्ता पटसत्तां नैव बाधते। घटपटयोर्युगपत्स्थितिः सर्वजनसंवेद्या वर्तते। न चात्र घटाभावस्य सत्त्वे पटेनावश्यमेवोपस्थातव्यम्। एकस्यानस्तित्वादपरस्यास्तित्वं कथं प्रभवेत्? एतद्युक्त्या घटतदभावयोर्यौगपद्यदर्शनं सम्भवं स्यात्। घटाभावस्यासत्त्वे घटस्य घटस्यासत्त्वे घटाभावस्य च वृत्तिरनिवार्या नैव स्यात्। न केवलमत्र भावाभावरूपयोः परस्परमसम्बद्धपदार्थयोर्यौगपद्यस्यैव समस्या समुदेति; अभावस्य पदार्थत्वाङ्गीकारे तस्याभावस्याभावः स्वपूर्ववर्तिनोऽभावस्य प्रतियोगी भवति; अत्राप्यभावे (घटाभावे) तत्प्रतियोगिनाभावेन (घटाभावाभावेन) तथैव घटाभावाभावस्य तत्प्रतियोगिनो घटाभावाभावस्य च पदार्थस्य यौगपद्यं न सम्भवं स्यात्। न च तयोरभावयोरेकस्या- सत्त्वेऽपरस्यावश्यम्भाविताापि प्रसज्येत। तदेवमभावानाम- न्तहीना काचन शृङ्खला संजायेत, अनवस्थादोषश्चानयो- रुपपद्येत। तस्मादभावस्य पदार्थत्वस्वीकृतिर्युक्त्या कथमपि नैव संगच्छते। किञ्च, वस्तुसत्तावत्सु पदार्थेषु विरोधाविरोधौ सत्तासत्ते क्रमाक्रमौ च धर्मत्वेन राजन्ते। अभावे भावेन सह तेषां विरोध ाविरोधादिधर्माणामेकस्या अप्यवस्थिततेरसम्भवात्तस्य वस्तुसत्त्वं न प्रसिध्यति। स्वरूपतः स्वरूपहीनत्वादभावस्य रूपवता भावेन सह विरोधाविरोधौ नैव घटेते। विरोध े समुच्छेदोऽविरोधे चानुग्रहो भवति। अभावो भावं न समुच्छिनत्ति। तस्मात्तेन तस्य कश्चन विरोधो नैव भवितुमर्हति। न च कथञ्चनाभावो भावमनुगृह्णाति तमुपकरोति वा। तस्मात्तेन तस्याविरोधोऽपि नैव सम्भवति। सद्रूपस्याभावस्य समुच्छेदनरूपमसद्रूपत्वं नैव संघटते। तस्माद्विरोधोऽसम्भवः। यच्च स्वनियतकारणसाकल्यात् कार्यत्वेन नियतं स्वरुपमुपागतमस्ति, यं तत्स्वरूपे समानेतुं कारणसाकल्यस्य साकल्यमर्पितमस्ति तस्य

नियतस्वभावस्य भावस्यातिरिक्तस्वरूपतारूपोऽनुग्रहोऽपि नैव सम्भवति।

अभावस्य सत्करणमप्यसम्भवम्, अभावस्य सत्तावत्त्वस्यात्मविरुद्धत्वात्। योऽभावो न सः सन् यच्च सन्न तदभावः। तौ हि परस्परमत्यन्तविरोधिनौ। न चाभावस्यासद्रूपकथनं युक्तिसङ्गतम् यथा स्वरूपेणाभिन्नयोर्भावाभावयोः परस्परमत्यन्तव्यतिरिक्त-योर्यथाक्रममभावभावसञ्ज्ञे न सम्भवतस्तथैव यस्मिनभावेऽत्रासत्त्वविधानमनुष्ठीयते तस्य तदभावस्य स्वरूपतो व्यतिरिक्तत्वादभावविधीयमानासत्त्वयोर्मिथो योगो नैव सम्भवति। किञ्चिद् भावात्मकं वस्तु लक्ष्यीकृत्यैवासत्त्वविधानं सम्भवम्, भावस्यैवासत्ताया बुद्धिगम्यत्वात्। अभावस्यासत्ता नाम भावातिरिक्तं किं वस्तु?

अभावस्य क्रमवत्त्वमप्यसङ्गतम्। सत्स्वभावः कार्यरूपभावः कारणान्तरमुपतिष्ठति। कारणं प्राग्भवति कार्यं च तदनु। अयमेवास्ति नैसर्गिकः सर्वबुद्धिगम्यः क्रमः। सत्स्वभाववतोऽस्य भावस्य सर्वथोच्छेदोऽसम्भव; तिरोभावानन्तरमपि तस्य स्वकारणे विद्यमानत्वात्; तत्कारणसामग्रीतस्तदभावस्य सदवस्थायाः पुनरनुभवितुं शक्यत्वाच्च। अनेन भावपदार्थानां क्रमवत्त्वं सिध्यति। क्रमो हि भावस्यैव धर्मः। सोऽयं धर्मस्तस्यात्यन्तविरोधिन्यभावपदार्थे नैव स्थातुमर्हति। अत्यन्तभिन्नयोर्द्वयोः पदार्थयोरेकधर्मवत्त्वमप्यसिद्धम्। एकस्याभावस्यापरा-भावापेक्षयापि क्रमवत्वं नैव सम्भवति,[१२] तदपराभावस्यैवानस्तित्ववत्त्वात्। अभावो निःस्वरूपः। अभावमात्रस्य स्वरूपं निःस्वरूपत्वमस्ति। तदेवं प्रथमाभावस्य द्वितीयाभावाद्द्वितीयाभावस्य च प्रथमाभावाद् कथं भेदः स्यात्? भेदो हि स्वरूपवतां पदार्थानामेव धर्मः। तदेवमाकूतं यदभावान्तरापेक्षयाप्यभावे क्रमवत्तास्वीकृतिर्न यौक्त्यं भजते। अक्रमो नाम युगपद्भावः। कालविशेषे द्वयोः पदार्थयोरुत्पत्तिः स्थितिर्ज्ञप्तिर्वाऽक्रमः कल्पितानामभावपदार्थानां निःस्वरूपत्वात्तेन तेषु भेदस्याभावाच्चाभावस्यैकत्वं द्वित्वं त्रित्वादिकं च नैव सम्भवति। द्वयोर्बहुनां वैव पदार्थानां समानकालत्वं प्रसज्यते। एवमेतस्मादभावपदार्थस्य क्रमवत्त्वमपि नैव प्रसक्तम्।

अभावसत्ताप्रतिषेधानन्तरं भर्तृहरिर्भावस्यापि यथार्थतां निराकरोति। तन्मते[१३] याः युक्तयोऽभावस्य यथार्थसत्तां खण्डयन्ति ता एव भावस्यापि पारमार्थिकतां निरस्यन्ति। अभावसत्तानिराकरणप्रसङ्गेऽभावे विरोधादिधर्माणामनुपपन्नता प्रादर्श्यत। त इमे धर्मा भावेऽपि नोपपद्यन्ते। भावे विरोधित्वधर्मो नास्ति। यदि नाम तस्य कश्चन विरोधः स्यात् स कल्पिताभावेन स्वव्यतिरिक्तेन केनचिद्भावेनैव वा स्यात्। न चाभावेन भावस्य विरोधः भवति,; तस्यानुच्छेद्यत्वात् निरतिशयत्वाच्च। नाभावो भावमुच्छिनत्ति। नापि भावान्तरेण भावस्य विरोधो भवति, भावस्य सर्वथानुच्छेद्यधर्मत्वात्। अपरभावोऽपि तदनुच्छेद्यतां न बाधितुमर्हति।

भावस्याभावेनाविरोधोऽपि नास्ति। पूर्ववत् स्वकारणसाकल्यान्नियतमेकं स्वरूपमुपागतस्य भावस्यातिष्ठायरूपप्रदानरूपोऽनुग्रहो नैवाभावेन सम्भवति। नैव वा भावान्तरेण तस्माद्भावेऽविरोधित्वधर्मोऽप्यप्रसिद्धः। किञ्च, भावो न सन्नासन्। अथक्रियाकारिता हि सल्लक्षणम्। योऽर्थक्रियायां समर्थः सः सत् यश्चार्थक्रियायामसमर्थः सोऽसत्। जलाहरणरूपार्थक्रियायां सामर्थ्याद्घटस्य सत्त्वमस्ति। अत्रेदमालोच्यते- घटस्य जलाहरणरूप एकस्मिन्नर्थे सामर्थ्येऽपि कायाच्छदन-गोपालन-क्रीडादर्शनादिशताधिकार्थक्रियास्वसामर्थ्यात्तस्य सत्त्वाभिधानं कथं सङ्गच्छते? वस्तुतस्त्वसङ्ख्यास्वर्थक्रियास्वसामर्थ्यात्तस्यासत्त्वमधिकयुक्तियुतं स्यात्। एकस्मिन्नर्थे प्रतीयमानस्य तद्भिन्नेषु चासङ्ख्येयेष्वर्थेषु अप्रतीयमानस्य भावस्यार्थक्रियाकारितारूपिणी सत्ता परमार्थतः सन्न भवितुमर्हति।

स भावो न चासत्। न हि असत् प्रतिभासते। शशशृङ्गादीनां प्रतिभासः सर्वथाऽसम्भवः। भावस्य तु मुखरः प्रतिभासो भवति। भावो हि नाम किञ्चित् सर्वजनसंवेद्यं वस्तु। तस्य संवेद्यवस्तुनोऽसत्त्वं कथङ्कारमापद्येत? भावाभावादिपदार्थानां पारमार्थिकतया

पदार्थत्वं नास्ति। पदार्थत्वेन तेषां व्यवस्था काल्पनिकी विवृतिरस्ति। हेलाराजस्तां कल्पनामविद्यामभिदधाति। स तां 'तत्त्वान्यत्त्वाभ्यामनिवाच्या' प्रतिपादयति। सेयमविद्येवैकस्यात्मनो भावात्मजगत्त्वेनाभावत्मजगत्त्वेन च प्रतिभासहेतुः परमार्थस्तु परमतत्त्वमेकमेव। तदेव परमतत्वं वैयाकरणानां शब्दब्रह्म। भर्तृहरिदर्शनं तामविद्यां कालशक्तिमभिदधाति। अत्रेदमवधेयं यत् परमतत्त्वस्य प्रतिभानस्वरूयोर्भावाभावयोस्तयोः कश्चन भेदो नास्ति। योऽसौ भेदः प्रतीतिमागच्छति स खलु कालकृतोपाधि जन्यमात्रः। परमतत्त्वं यदा वर्त्तमानकालोपाध्युपहितं भवति तदा तदर्थक्रियां सम्पादयति तदैव च तद्भावरूपेणानुभूतिमापतति। तदेव तत्त्वं यदा भूतोपाध्युपहितं भविष्यदुपाध्युपहितं वा भवति तदाभावरूपेणानुभूतिविषयतामापद्यते। सूक्ष्मदृष्टिपाते तु भूतभविष्यद्वर्तमानरूपा अमी कालकृता भेदा अपि परमार्थतो भावाभावपदार्थवन्मिथ्यैव सन्ति। शब्दब्रह्मैव तदेकं परमतत्त्वम्। तदेवैकं सत्। यत्किञ्चिच्चानुभूयमानं दृश्यमानं प्रपञ्चजातमस्ति तद्रज्ज्वां सर्पवद्विवर्तमात्रमस्ति। शब्दब्रह्मातिरिक्तं सर्वमप्यस्तित्वं भ्रान्तप्रतीतेरतिरिक्तं न किञ्चित्।

अत्रेदमाकूतं यद्भर्तृहरिराचार्यः स्वकारणमीमांसायां शाङ्करवद्विर्तवादमिवादं निरूपयाञ्चकार। शङ्करवद्विवर्तवाद्याचार्यत्वेन तस्य चित्रणं शङ्करपरवर्तिनां शाङ्करदर्शनप्रत्तधियां विदुषां पूर्वाग्रहपूर्णा कापि व्याख्या नास्ति। विवर्तवाद एव भर्तृहरेर्मतम्। विवर्तवाद एवं भर्तृहरेः कारणवादस्य तत्त्वमित्यलम्; किमधिकेन युक्ति प्रपञ्च प्रसारेण।

सन्दर्भः-

१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।
-वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम् ।।१।।

२. शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्यः एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत।।तत्रैव १२०

३. एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्,
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।।
-उत्तररामचरितम् ३-४७।।

४. त्रिगुणं प्रधानं मष्टद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना विवर्त्तते।

५. शब्दार्थमीमांसा, पृ. ४८-४९

६. तत्रैव, पष्ट. ४९

७. तत्रैव, पष्ट. ४३-५६

८. नाभावो जायते भावो नैति भावोऽनुपाख्यताम्।
एकस्मादात्मनोऽनन्यौ भावाभावौ विकल्पितौ।।
- वाक्यपदीयम्, पदकाण्डम्, ६१

९. सोपाख्यस्य तु भावस्य कारणं किं करिष्यति।
- तत्रैव, ६२

१०.वाक्यपदीय-सम्बन्धसमुद्देश-एक विवेचनात्मक अध्ययन, पष्ट. ३३५

११.न ह्यभावस्य सद्भावे भावस्यात्मा प्रहीयते।
न चाभावस्य नास्तित्वे भावस्यात्मा प्रसूयते।।
- वाक्यपदीयम्, पदकाण्डम्, ७४

१२.अविरोधी विरोधी वा सन्नसन् वापि युक्तितः।
क्रमवानक्रमो वापि नाभाव उपपद्यते।।
-तत्रैव, ६७

१३.अविरोधी विरोधी वा सन्नसन् वापि तत्त्वतः।
क्रमवानक्रमो वापि तेन भावो न विद्यते।।
-तत्रैव, ६८

एसोसियेट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

जो अविद्या रूप संसार से माथापच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं वैसे उपदेश करने वाले ही मिथ्यारूप और पाप के बढ़ाने हारे पापी हैं। जो कुछ शरीरादि से कर्म किया जाता है वह आत्मा ही का और उस के फल का भोगने वाला भी आत्मा है। **-सत्यार्थ प्रकाश, पंचमसमुल्लास**

वैदिकवाङ्मये नारी

सुशील कुमारी...

वैदिक-वाङ्मये नारीणां विशिष्टं स्थानं वर्तते। 'नारी' शब्दस्य व्युत्पत्तिः 'नर' शब्दवत् भवति। नृ-नये धातोः अच् ङीष् प्रत्ययौ कृते सति 'नारी' शब्दः निष्पद्यते।[१]

'नर' शब्दस्य अर्थोऽस्ति-क्रियाशीलः पुरुषः। अतः 'नारी' शब्दस्य अर्थः 'क्रियाशीलस्त्री' वर्तते। अर्थात् या गतिं करोति, चलति चालयति अथवा या कर्म व्यापारे गच्छति गमयति सा नारी। अतः नर-नारी उभयोरेव तुल्यार्थः वर्तते। ऋग्वेदे नृ-धातोः प्रयोगः नेतृत्त्वे, दाने, वीरकर्मणि वा प्राप्नोति।

ऋग्वेदे एव नारीबोधकशब्दः 'ग्ना' मिलति। ऋग्वेदे अस्य प्रयोगः देवपत्नीनां कृते प्राप्यते परन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थेषु मानवीनां कृते अस्य प्रयोगः मिलति। निरुक्त शास्त्रे[२] अस्य व्युत्पत्तिरेवमस्ति यत्- "ग्ना गच्छन्ति एनाः। अर्थात् पुरुष एव तस्याः पार्श्वे गच्छति। निरुक्त शास्त्रैव अन्यत्र अध्याये "ग्ना" शब्दस्य व्युत्पत्तिः एवं वर्तते यत् "ग्ना"- गमनादापः। देवपत्न्यो वा। गम्-गतौ धातोः निष्पद्यते।"[३]

लौकिक संस्कृते निदर्शन स्थानेषु सर्वप्रथमं महिला शब्दो आयाति। यथा- महिला- मह्+इलच्+आ (टाप्) = महिला। मह् शब्दार्थो श्रेष्ठः ज्येष्ठः, पूजार्हः वा। अर्थात् या श्रेष्ठा, ज्येष्ठा, पूज्या सा महिला। आधुनिक संस्कृतौ तासां सम्माने मान्या शब्दो प्राप्यते। संस्कृत वाङ्मये[४] स्त्रीशब्दो प्रायः प्रयुक्तोऽस्ति। यस्यार्थोस्ति-नारी।

भाष्यकारेण महर्षि-पतञ्जलिना 'स्त्री' शब्दस्य व्याख्यायां एवं निगदितं यत्- "स्त्यास्यति अस्यां गर्भ इति स्त्री" अर्थात् गर्भधारणात् स्त्री भवति अपि वा पुरुषं गर्भे धारयति या पुरुषस्य गर्भं धारयति अतः स्त्री भवति।

वैदिक युगे नारीणां शिक्षा स्वकीय उच्चतमस्थितौ आसीत्। नार्याः भाषा-साहित्य-कला-युद्ध विद्यानाञ्च शिक्षां प्राप्नुवन्ति स्म। ताः ज्ञानक्षेत्रे अग्रगण्याः आसन्। बहुविधानां नारीणां अभिधानानि प्राप्यन्ते याः वैदिक मन्त्राणां द्रष्ट्र्यः आसन्। घोषा- अपाला- ब्रह्मजाया जुहू- दक्षिणा- रोमशा- लोपाद्रुमा- ममता- यमी- विश्ववारा- सूर्या- सिकतादय सूक्तद्रष्ट्र्यः ऋषिकाः वर्तन्ते।[५] एतादृशीनां नारीणां उल्लेखमपि उपलभ्यते याभिः सैनिक शिक्षाऽपि प्राप्ता। मुद्गलानी महाभागायाः नाम अस्याः शिक्षायाः विषये ब्रूयते यत् यदा वञ्चकाः तस्याः पत्युः गाः अपहृतवन्तः तु तया तैः वञ्चकैः सह युद्धं कृतम्। नृत्य-संगीत- ललितकलानां अभ्यासोऽपि नारिभिः क्रियते स्म।

वैदिक युगे शिक्षया सह नारीणां पुरुषाणां सदृशं उपनयन-संस्कारोऽपि भवति स्म। यज्ञोपवीत-संस्कारः उभयोः कृते समानरूपेण अपरिहार्यः आसीत्। अथर्ववेदे वर्णितमस्ति यत् **"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।"**[६] अर्थात् स्त्रीभिः शिक्षां प्राप्य गुणयुक्तेन पुरुषेण सह विवाहसंस्कारः करणीयः। मनुस्मृतौ[७] एवं वर्णनं प्राप्यते यत् या नारी यादृशेन गुणयुक्तपुरुषेण सह विवाहं करोति सा तादृशैः गुणैः युक्ता जायते। अर्थात् सद्गुणयुक्तेन सह सद्गुणवती तथा दुर्गुणयुक्तेन सह सम्बन्धेन दुर्गुणवती भवति। अतएव कन्यया उचितकाले एव सुयोग्यवरेण सह विवाह संस्कारः करणीयः। यजुर्वेदेऽपि वर्णनं प्राप्यते यत् **"एका युवती कन्या यस्या शिक्षा पूर्णा भवेत् तस्याः विवाहः शिक्षित पुरुषेणैव सह भवितव्यः।"**[८] एतादृशः एव विचारः ऋग्वेदेऽपि[९] उपलभ्यते। वेदेषु नारीं सद्गुणानामधिष्ठात्रीत्वेन स्वीक्रियते। यथोक्तं यजुर्वेदे मन्त्रेऽस्मिन्-**"मूर्धासि राड्ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी। आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृतायै त्वा क्षेमाय त्वा।"**[१०]

वैदिक युगे नारीणां गृहस्थजीवनेऽपि अतीव महत्त्वमासीत्। ताः दुहितारूपे, पत्नीरूपे, मातारूपे च सर्वथा सम्मानयोग्याः आसन्। ऋग्वेदे[११] जायामेव गृहं मन्यते। पत्न्या एव गृहस्य गृहत्वं सिद्ध्यति। महाभारतेऽपि[१२] उक्तम् - **गृहं गृहं नैव भवति अपितु गृहिणी एव गृहं वर्तते।** नारी एव गृहस्वामिनी, गृहलक्ष्मीः, कल्याणी, सम्राज्ञी च वर्तते। पत्युः गृहे सा गृहस्वामिनी भवति। नारी एव गृहलक्ष्मीः भवति अथर्ववेदेऽपि[१३] पत्न्याः सर्वोत्कृष्टं स्थानं कथितम्।

शतपथब्राह्मणेऽपि[१४] उल्लेखः वर्तते यत् पत्नी पत्युः अर्द्धांगिनी वर्तते। यावत् पुरुषः विवाहसंस्कारं कृत्वा सन्तानोत्पादनं न करोति, तावत् पर्यन्तं सः अपूर्णः एवास्ति। अपत्नीकः पुरुषः तु यज्ञाधिकारादपि वञ्चितः आसीत्। अर्थात् पत्नीं विना यज्ञस्य पूर्तिः कदापि नैव भवति। अतः यज्ञस्य पत्न्योश्च घनिष्ठः-सम्बन्धः वैदिक युगे आसीत्। तैत्तिरीय-ब्राह्मणेऽपि अस्य विषये एवमुक्तम्। **"अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः।"**[१५]

वैदिककाले नारी मातृरूपे पूजनीया आसीत्। ऋग्वेदे- **'उपसर्प मातरं भूमिमेतामुरु'**[१६] तथा अथर्ववेदे- **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'**[१७] इति मन्त्रैः नार्याः मातुः रूपे स्तुतिः कृता।

यजुर्वेदे नारी परिवारस्य पालयित्री, धरित्री, यन्त्री च रूपेण मन्त्रेऽस्मिन् दर्शिता-

"यन्त्री राड्यन्त्रयसि यमनी ध्रुवासि धरित्री। इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥"[१८]

यजुर्वेदे[१९] एव नारी स्तुतियोग्या, रन्ता, हव्या, पूजनीया, कमनीया, ज्योत्स्ना च कथिता वर्तते। आचार्य मनुनाऽपि स्पष्टरूपेण निगदितं यत्-

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥"[२०]

अर्थात् यत्र नारीणां पूजा सम्मानश्च भवति, तत्र देवानां सदैव आशीर्वादः भवति। तथा यत्र स्त्रीणां दुर्दशा अपमानश्च क्रियते तस्मिन् स्थाने विनाशः एव जायते। अतः वैदिक कालादेव नारी पूजनीया वन्दनीया च वर्तते।

असि.प्रोफेसर (संस्कृत विभाग)
मैत्रेयी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूचीः-

१ संस्कृत हिन्दी कोष, पृ० ५२०
२ निरुक्त, ३.२१
३ उपरिवत्, १०.४५
४ संस्कृत हिन्दी कोष, पृ० ११३८
५ बृहद्देवता, २.८, २-४
६ अथर्ववेद ११.५.१०
७ मनुस्मृति ९.२२
८ यजुर्वेद ८.१
९ ऋग्वेद ३.५५
१० यजुर्वेद १४
११ ऋग्वेद ३.५३.४
१२ न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। महाभारत (शान्तिपर्व) १४२
१३ "गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथास।" अथर्ववेद, १४.१.२०
१४ "अर्धो ह वा एज़ आत्मनःरु।" शतपथ ब्राह्मण, ५.२.१.१०
१५ तैत्तिरीय-ब्राह्मण, २.२.२.६
१६ ऋग्वेद, १०.१८.१०
१७ अथर्ववेद, १२.१.१२
१८ यजुर्वेद, १४.२२
१९ इडे रन्तेहव्ये काम्ये चन्द्रे जयोतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति। एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्। यजुर्वेद, ८.४३
२० मनुस्मृति, ३.५६

कर्मतत्त्व के सन्दर्भ में ईशोपनिषद् एवं गीता की प्रासङ्गिकता

– डॉ.सोमवीर ....

भारतीय विचारधारा कर्मवाद की प्रबल समर्थक रही है। सामान्य दृष्टि से कर्म के तीन रूप माने जाते हैं – (१) संचित कर्म (२) प्रारब्ध कर्म एवं (३) क्रियमाण कर्म। (१) अतीत में जो कर्म किये गये हों, वे खत्म नहीं होते, उनका प्रभाव बना रहता है यही कर्म संचित कहलाते हैं एवं जिनका फल अभी शेष है; फल मिलना आरम्भ नहीं हुआ है। (२) अतीत के कर्म जिनका फलारम्भ हो चुका है, प्रारब्ध कर्म हैं एवं (३) वर्तमान में किया जाने वाला कर्म क्रियमाण है और ये ही संचित एवं प्रारब्ध का रूप ग्रहण करेंगे। शंकराचार्य का मत है कि पुनर्जन्म का आधार भी कर्म ही हैं –

'फलस्य वा पूर्वावस्था पूर्व नामास्तीति तर्क्यते'[१]

भारतीयों का भाग्यवाद भी अपने मूल रूप में कर्मवाद पर आधारित है। भाग्य व्यक्ति द्वारा पूर्व जन्म में अर्जित कर्मों का ही फल होता है। व्यक्ति अपने पूर्व जन्म के कर्मों का फल ही नहीं भोगता, वह अपने नये कर्मों के द्वारा अपने भविष्य या भाग्य का निर्माण करता है। अत: कर्मवाद आधारित भाग्यवाद निठल्लावाद नहीं है।

कर्मफल प्राप्ति के दो मत हैं ईश्वरवादी मतानुसार कर्म का फल ईश्वर प्रदान करता है एवं निरीश्वरवादी के अनुसार प्रत्येक कर्म से एक शक्ति (अपूर्व) उत्पन्न होती है जो किसी भी तरह खत्म नहीं होती और इस कर्मजन्य शक्ति के कारण प्रत्येक कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति को कर्म की शक्ति को समझना चाहिए। भगवद् गीता में इसे प्रकरणान्तर से कहा गया है –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥[२]

भारतीय चिंतन अतीतकाल से ही कर्मवाद का पोषक रहा है। ऐतरेय ब्राह्मण अपने 'चरैवेति' गीत में उद्घोष करता है –

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः। शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति, इति॥[३]

बैठे हुए का भाग्य बैठ जाता है, उठकर खड़े होने वाले का ऊँचा खड़ा होता है, सोने वाले का सोया रहता है, चलने वाले का भाग्य चलता है – चलते रहो।

चरन्वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्। सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् चरेवैति इति॥[४]

चलता हुआ निश्चय ही मधु प्राप्त करता है, चलता हुआ स्वादिष्ट उदुम्बर (अंजीर) को पाता है। सूर्य की शोभा को देखो चलता हुआ आलस्य नहीं करता –चलते रहो।

कर्म में विश्वास रखने वाले अथर्ववेद के मनीषी को अपने कर्म पर इतना भरोसा था कि वह कहता था –

'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।'[५]

मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है और बायें हाथ में सफलता रखी है।

यद्यपि उपनिषदों का मूल उद्घाटन ब्रह्म ही है एवं ब्रह्म–प्राप्ति मानवमात्र का उद्देश्य है। तथापि कर्मवाद का प्राञ्जल रूप उपनिषदों ने हमेशा स्वीकार किया है। ईशोपनिषद् का पहला ही मन्त्र त्याग भाव प्रदर्शित कर दु:खी, चिन्तित एवं व्यग्रताओं से ग्रस्त मनुष्य के लिये चैन, शान्ति एवं उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है –

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥[६]

मानवमात्र के लिए ईश्वरीय–ज्ञान वेद का उपदेश है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अथवा सृष्टि में जो कुछ भी जड़–चेतनात्मक संसार हम सभी को देखने अथवा सुनने में आ रहा है वह सम्पूर्ण सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मा से व्याप्त है। परमात्मा ने संसार में चेतन प्राणियों को तथा जड़ वस्तुओं और पदार्थों आदि को उत्पन्न किया और तदनन्तर उन सभी में स्वयं भी व्याप्त हो गया। पुरुषसूक्त के निम्नलिखित मन्त्र भाग

से इसकी पुष्टि भी हो जाती है।

ततो विष्वङ्व्यक्रामत साशनानशने अभि।।[७]
अर्थात् (ततः) इस जड़ और चेतनात्मक जगत् के उत्पन्न होने के उपरान्त (वह) (साशन-अनशने) भोजन करने वाले (अर्थात् चेतन-जगत्) और भोजन न करने वाले (अर्थात् जड़ जगत्) ब्रह्माण्ड में (विष्वङ्) सभी ओर (अभिव्यक्रामत) व्याप्त हो गया। इसी भाँति तैत्तिरीय उपनिषद् में भी आता है :-

इदं सर्वमसृजत्। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्।[८]

ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् की रचना करके (तत् एव अनु प्राविशत्) उसमें स्वयं भी प्रविष्ट हो गया।

अतः परमात्मा की स्थिति को निरन्तर अपने साथ समझते हुये, इस संसार में अनासक्त भाव से सांसारिक विषयों, द्रव्यों एवं पदार्थों आदि का उपभोग करना चाहिए। भोग्य वस्तुएँ एवं पदार्थ किसी के नहीं हैं। आत्मा जब इस शरीर को छोड़कर चल देता है तब सांसारिक वस्तुयें उसके साथ नहीं जाया करती। अतः सभी सांसारिक वस्तुओं तथा पदार्थों को उस ईश्वर का ही समझना चाहिए।

सत्य भी यही है कि सभी पदार्थों आदि के प्रयोग करने का ही मनुष्य को अधिकार है। उन वस्तुओं, पदार्थों आदि पर उसका स्वत्व नहीं। नगर के उद्यान में भ्रमणार्थ आया व्यक्ति भ्रमण के उपरान्त सभी वस्तुओं को यथावत् छोड़ पुनः वापस हो जाता है इसी भाँति सांसारिक सभी वस्तुओं के प्रति भी मनुष्य को ममत्वहीन ही होना चाहिए। ममत्वहीन व्यक्ति सभी वस्तुओं का उपयोग करते हुए होने पर भी उसमें लिप्त नहीं हुआ करता है। अतः वस्तुओं एवं पदार्थों के छूट जाने अथवा नष्ट हो जाने पर उसे किसी प्रकार की कष्टानुभूति नहीं होती है। वह पूर्ण शान्ति के साथ इस लोक से गमन किया करता है।

इस प्रकार व्यक्ति सांसारिक एषणाओं (पुत्रेषणा, लोकेषणा और वित्तेषणा) से अपनों को अलग कर लिया करता हैं। सांसारिक वस्तुओं के साथ ममत्व रखने के स्थान पर यदि मानव परमात्मा के साथ अपना ममत्व स्थापित करे तो वह कल्याणप्रद होगा। परमात्मा सर्वव्यापक होने से प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक परमाणु तक में व्याप्त है। इस प्रकार ज्ञान वाला व्यक्ति पापाचरण करने से भयभीत रहा करता है। क्योंकि सर्वव्यापी से कुछ शेष नहीं अतः वह गलत कार्य या पापाचरण में भी प्रवृत्त नहीं होगा एवं उसका जीवन स्वयं ही पवित्र, सुखमय एवं प्रतिष्ठित होगा।

निश्चित ही यह अकर्म की व्यापक आधारशिला है जो व्यक्ति सर्वव्यापकता के विश्वासी होते हैं वे पापरहित होते हैं। तथा प्राणिमात्र के प्रति स्नेह रखते है। उनके सभी कार्य निर्विघ्न समाप्त होते हैं एवं पूर्ण शान्ति उनका अनुगमन करती है।

अपने को कर्मनिष्ठ एवं विश्वबन्धुत्व की भावना के साथ जीवन-यापन करने के लिए परमात्मा की सर्वव्यापकता स्वीकारना अनिवार्य है।

ईशावास्यमिदं सर्वं .... में वर्णित तीन भावनाओं (१) ईश की व्यापकता (२) त्याग-भाव (३) अनतिक्रमण के साथ मनुष्य को संसार में कर्म करते रहना चाहिए। पुनः प्रश्न है कि कर्म किस प्रकार का हो? प्रस्तुत मन्त्र हमें फल-आशा का त्याग करते हुए या फल की भावना का त्याग करते हुए कर्त्तव्य-बुद्धि के साथ कर्म करने का मार्ग देता है -

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।[९]

मनुष्य के लिए सर्वोत्कृष्ट हितकर है कि वह संसार में शुभ कर्मों को करता हुआ सौ वर्षों तक जीवित रहे। किन्तु कर्मों को निष्कामभाव से किया जाना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में ये कर्म उसको बन्धन में डालने में समर्थ नहीं हुआ करते। यही एक मात्र साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने को कर्म-बन्धन से मुक्त रख सकता है अर्थात् सांसारिक दुःखों से निवृत हो कर्म-बन्धन से परे जीवन के लक्ष्यीभूत चतुर्थ-पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त कर्म बन्धन से मुक्ति का कोई दूसरा साधन नहीं है।

गीता इन्हीं मंत्रों को ग्रहण करती है एवं कर्म का गहरा विश्लेषण प्रस्तुत करती है। गीता कहती है कर्म के बिना जीवन निर्वाह असम्भव है :-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥[१०]

निःसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृतिजनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिये बाध्य किया जाता है।

गुणत्रय से व्यक्ति स्वतंत्र नहीं। गीता में कर्म का विभाजन दो तरह से किया गया है। पहला कर्म, अकर्म तथा विकर्म-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥[११]

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्म की गति गहन है। दूसरा कर्म विभाजन सात्विक, राजस और तामस है -

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसांख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥[१२]

गुणों की संख्या करने वाले शास्त्र में ज्ञान तथा कर्म तथा कर्ता गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन।

पहले विभाजन के अनुसार कर्म का सम्बन्ध प्रमुख रूप से व्यक्ति की मानसिकता से है। इसलिए बाह्य संयम, जो मन में नहीं उतरता है, कर्म को खत्म नहीं कर सकता। बल्कि संयम की ओट में मानस में इच्छाओं तथा वासनाओं से उलझा व्यक्ति वास्तव में कर्म ही करता रहता है और जब तक इस तरह के कर्म का त्याग न हो, वह कर्म-त्यागी वास्तविक अर्थ में नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जो व्यक्ति शरीर से कर्म करता है पर किसी भी तरह की मानसिक आसक्ति से जुड़ा नहीं है वह अकर्म कर रहा है, अर्थात् कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता। कर्म के पीछे उपस्थित वासनाएँ तथा आसक्ति ही व्यक्ति को बाँधती है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नाकर्मकृत्॥[१३]

जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मों को करने वाला है। चूँकि व्यक्ति बन्धनकारी वासना से मुक्त है इसलिए वह कर्म ही नहीं है अकर्म है। इसी तरह कर्म का अर्थ ही बन्धनकारी क्रिया है। विकर्म वे हैं जो गर्हित कर्म हैं जैसे हिंसा, झूठ, जालसाजी आदि। इस तरह कर्म का अर्थ हुआ वे क्रियाएँ जो व्यक्ति को बाँधती हैं, अकर्म का अर्थ हुआ मन का निरासक्त भाव जो कर्म करते हुए व्यक्ति में विद्यमान रहता है और विकर्म का अर्थ है वे कार्य जो शास्त्र द्वारा निषिद्ध हैं।

गीता के द्वितीय विभाजन के अनुसार कर्म सात्विक, राजस एवं तामस इन तीनों में से किसी एक वर्ग में रखे जाते हैं जो कर्म शास्त्रविधि से नियत और कर्तापन के अभिमान से रिक्त है, बिना फल की इच्छा से किया जाता है वह सात्विक कर्म है। जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल को चाहने वाली इच्छा और अहंकार से किया जाता है वह कर्म राजस हैं। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य का विचार किए बिना अज्ञानवशात् होते हैं वे तामस कर्म है।

नियतं सरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥[१४]

जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित हो तथा फल न चाहते वाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष के किया गया हो-वह सात्विक कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥[१५]

परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है तथा

भोगों को चाहने वाले पुरुष के द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥[१६]

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचारकर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है॥

गीता के अनुसार प्रत्येक कर्म के ५ घटक हैं - अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा तथा दैव।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥[१७]

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तम को स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगी के लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ॥
वह दैव नामक घटक व्यक्ति के हाथ में नहीं होता। पर यही तत्त्व व्यक्ति के कर्म को सफलता या विफलता प्रदान करता है। व्यक्ति जब समझता है कि सफलता विफलता का जिम्मेदार वह स्वयं है तो गलती करता है। इससे उसे अभिमान या निराशा भी आ सकती है। इसलिए सबसे अच्छा रास्ता यह है कि बिना फल की परवाह किये कार्य किए जाएँ। इस प्रकार किये गये कार्य में अभिमान या निराशा दोनों के लिए कोई स्थान नहीं है। केवल इसी प्रकार कर्म कुशलतापूर्वक किया जा सकता है।

जो लोग ईश्वर में विश्वास करते हैं उनके लिए गीता में विश्वास की यह वाणी है कि ईश्वर के भक्त को कोई हानि नहीं हो सकती। भक्त के योग-क्षेम की जिम्मेदारी ईश्वर अपने ऊपर ले लेता है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥[१८]

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। यह कर्म के सिद्धान्त की विरोधी बात नहीं है क्योंकि ईश्वर पर विश्वास रखना भी तो एक कर्म ही है। इसलिए एक पराजित न होने वाली कर्मशीलता की प्रेरणा गीता में परिव्याप्त है।

ईश्वर की व्यापकता एवं निष्काम कर्म का समूल मंत्र ही ईशोपनिषद् के प्रारम्भिक दो मंत्रों में समाहित कर दिया गया है। इसकी तुलना गीता से दिखायी गयी है। गीता के सम्पूर्ण निष्काम योग या ज्ञान-योग एवं भक्ति-योग का निचोड़ ईश उपनिषद् का प्रथम एवं द्वितीय मंत्र है, जिससे मनुष्य को आत्यन्तिक शान्ति प्राप्त होती है। इस सर्वमान्य सिद्धान्त को दुनिया के सभी चिन्तक मानते हैं। शान्ति के लिए अनन्त परमात्मा की सत्ता में जाना ही होगा। इस सत्य का मार्ग भिन्न-भिन्न होने पर भी ईश्वरार्पण का कोई विकल्प नहीं है। ईश-प्राप्ति होने मात्र से ही सब कुछ अपना हो जाता है। इसे आज के सांसारिक प्रयोगशाला में बुद्ध, शंकराचार्य, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, तिलक, विनोबा आदि महर्षियों ने सफलतापूर्वक अपना कर अपना जीवन धन्य बनाया है। भारत-भू के वायुमण्डल में ही कर्म एवं त्याग का दर्शन मिश्रित है, बस एक पहल की जरूरत है।

तदर्थ प्रवक्ता (संस्कृत विभाग)
हंसराज कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-११०००७

सन्दर्भ सूची :-

१. शांकरभाष्य, ३.२.४०
२. गीता, ६.५
३. ऐतरेय ब्राह्मण, ३३.३.३
४. वही, ३३.३.५
५. अथर्ववेद, ७.५२.८
६. ईशोपनिषद्, ४०.१
७. ऋग्वेद, १०.9०.४
८. तैतिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, अनुवाक्-६
9. ईशोपनिषद्, ४०.२
१०. गीता, ३.५
११. वही, ४.१७
१२. वही, १८.१9
१३. वही, ४.१८
१४. वही, १८.२३
१५. वही, १८.२४
१६. वही, १८.२५
१७. वही, ८.१४
१८. वही, 9.३१

वैदिकयज्ञविज्ञानम्

–अजीतकुमारः

तैत्तिरीयारण्यके यज्ञस्य रूपमेवं व्याख्यातम् तद्यथा–''यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्धोता प्राणोद्गाता यक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीद् यावद् ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत् पिबति तदस्य सोमपानं विद्यते सदुपसदो यत्संचरत्युपवित्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखं तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायं प्रातरत्ति: तत्समिधं यत्प्रातर्मध्यन्दिनं सायं च तानि सवनानि ये अहोरात्रे ते दर्शपूर्णमासौ येऽर्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि च ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथः। एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्रम्।''[१]

आध्यात्मिकमिदं यज्ञस्य स्वरूपम्। सर्वं जीवनमत्र यज्ञे समाविष्टम्। अयमभिप्रायः–नर्ते यज्ञादाजन्मन आमृत्योः किञ्चिदपिसिध्यति, आदानप्रदानयोरेव यज्ञरूपत्वाद्विनादान–प्रदानाभ्याञ्च क्षणमपि जीवितुमशक्यत्वात्। चराचरयोः जडचेतनयोर्वा किञ्चिदपि कूटस्थं नावतिष्ठते। सर्वत्र सर्वं सर्वदा परिणमते। षड्भावविकारा त्रिषु जन्मस्थितिप्रलयेष्वन्तर्भवन्ति। आदानेन जन्म प्रदानेन च प्रलयः। उत्पत्तिप्रलययोर्मध्यवर्तिनी स्थितिः। रजस उत्तपत्तिः, सत्तवेन स्थितिः, तमसा च प्रलयः। प्राकारान्तरेण विष्णोरुत्पत्तिः, ब्रह्मातः स्थितिः, शिवेन च प्रलयः। इयमेव त्रिमूर्तिरिम एव त्रयोगुणाः–

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमः स्पृशे। अजाय सर्ग–स्थितिनाश–हेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः[२]

विष्णुराददाति, ब्रह्मा स्थापयति। इन्द्रश्च प्रददाति। तत्र यावद् विष्णुराददाति तावद् आदानप्रदानात्मकः यज्ञः प्रचलति। तस्माद् यो वै विष्णुः यज्ञः।[३] यदिन्द्रेण बहिर्गच्छति तद् बलमग्निरित्युच्यते। यद्विष्णुना समायातं तत् सोम इति। अग्नौ सोमाहुतिरेव यज्ञः अनेनैव यज्ञेन ऋतवः जायन्ते। तद्यथा वसन्तग्रीष्मवर्षाः अग्निः शरद्–हेमन्त–शिशिराः सोमः। अनयोः संयोगेन शैत्योष्ण्यतादातम्ये ऋतवः सम्पद्यन्ते। तथैव अहरग्निः, रात्रिः, सोमः, अनयोः संयोगः अहोरात्रम्। अस्य प्रतिनिधिभूतः अग्निहोत्रम्। शुक्लपक्षोऽग्निः। कृष्णपक्षः सोमः। अनयोः संयोगः मासः। तस्य प्रतिनिधिभूतः पशुबन्धयज्ञः। एषां चतुर्णां समष्टिः संवत्सरः। तस्य प्रतिनिधिभूतः सोमयागः। प्रकृतिः सर्वशक्तिमती सर्वं सञ्चालयत्यपि न बध्यते। एवं यज्ञं सम्पाद्यमानोऽपि यजमानः सर्वशक्तिमान् जायते न च बध्यते।

प्रजापतिः यज्ञेनैव सृष्टिं सृजति। अस्य आधिदैविकयज्ञस्य विवरणं शतपथब्राह्मणे विस्तरेण श्रूयते–

''तत एवं परमेष्ठी प्रजापत्यो यज्ञमपश्यद्यद्दर्शपूर्णमासौ ताभ्यामयजत ताभ्यामिष्ट्याकामयताहमेवेदं सर्वं स्यामिति स आपोऽभवदापो वा इदं सर्वं ता यत्परमे स्थाने तिष्ठन्ति योहीहाभिखनेदप एवाभिविन्देत्परमाद्वा एतत्स्थानाद्वर्षति यद्दिवस्तस्मात्परमेष्ठी नाम। स परमेष्ठी प्रजापतिं पितरमब्रवीत्। कामप्रं वा अहं यज्ञमदर्शं तेन त्वा याजयानीति तथेति तामयाजयत्स इष्ट्वाकामयताहमेवेदं सर्वं स्यामिति स प्राणोऽभवत्प्राणो वा इदं सर्वमयं वै प्राणो योऽयं पवते स प्रजापतिस्तस्य दृष्टिर्यदेव वेदेत्थाद्वातीति यद्वै किंच प्राणि स प्रजापतिः स यो हैवमेतां प्रजापतेर्दृष्टिं वेदाविरिव हैव भवति। स प्रजापतिरिन्द्रं पुत्रमब्रवीत्। अनेन त्वा कामप्रेण यज्ञेन याजयानि येन मामिदं परमेष्ठ्ययी यजेदिति तथेति तमयाजयत्स इष्ट्वाकामयताहमेवेदं सर्वं स्यामिति स

वागभवद्वाग्वा इदं सर्वं तस्मादाहुरिन्द्रो वागिति। स इन्द्रोऽग्नीषोमौ भ्रातरावब्रवीत्। अनेन वा कामप्रेण यज्ञेन याजयानि येन मामिदं पिता प्रजापतिरयीयजेदिति तथेति तावयाजयत्ताविष्ट्वाकामयेतामावामेवेदं सर्वं स्यावेति तयोरन्नाद एवान्यतरोऽभवदन्नमन्यतरोऽन्नाद एवाग्निरभवदन्नं सोमोन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च। ता वा एता:। पञ्च देवता एतेन कामप्रेण यज्ञेनायजन्त ता यत्कामा अयजन्त स आभ्य: काम समार्ध्यत यत्कामो ह वा एतेन यज्ञेन सोऽस्मै काम: समृध्यते।''[४]

प्रत्यक्षतोऽपि यज्ञस्य निर्माणशक्ति: दृश्यते। पिण्डस्य निर्मितिरग्निना सम्पद्यते। अयमग्नि: अभित: शक्तिं गृह्णाति। इदमग्ने: अशनाया: बलस्य फलम। अशनाया: हेतोरग्नि: रोदति–**''अग्निर्वै रूद्रो यदरोदीत् तस्माद् रूद्र:।''**[५]

अस्य अग्ने:, संपर्कात् द्यावापृथिव्यौ रोदसी इत्यभिधीयेते। प्रतिपिण्डं सान्तरिक्षमियं त्रिलोकी। तां परित: शक्ति: विकीर्णा। व्यापकत्वात् सा शक्ति: आप इत्युच्यते। अयमेव स चतुर्थ: आपोलोक: यमधिकृत्यश्रुतिराह–

''अस्ति वै चतुर्थो देवलोक: आप:''[६]

अस्मादेव आपो–लोकात् विष्णु: पिण्डे सोमाहुतिर्ददाति। तस्माद् विष्णु: समुद्रे शेते इति पौराणिका:। गर्भस्थोऽग्नि: गर्भे, बीजस्थोऽग्नि: वृक्षे अस्मादेव सर्वत: प्रसृतात् आपोलोकात् भूतांशे ग्राहं ग्राहं प्राणत्वेन परिणमते। अयं च प्राणांश: एकत: मन: अपरत: वाचञ्चिनोति। अयमन्योन्परिणमनविधि: यज्ञ:–

''वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तर क्रमो यज्ञ:''

अत्र परिणमने प्राणक्रिया एव हेतु:। तस्मादुच्यते– **''प्राणैरु यज्ञस्तायते''**[७]

अग्नौ आहुतो सोम: अग्नित्वेन परिणमते। पुन: ज्वालारूपेण उत्थित: अग्नौ आहुत: अग्नित्वेन परिणमते। एवं मूलत: एकोऽपि देव: यज्ञप्रक्रियया द्विधा विभक्त: बहुत्वेन परिणमते–''एकं वा इदं विबभूव सर्वम्।''

विना द्वैतां सृष्टिर्न प्रवर्तते। तदेव द्वैतं अग्निषोमाभ्यां प्रतीकरूपेण अभिधीयते। तद् द्वैतम् अहोरात्ररूपेण मातापितृरूपेण, सूर्यचन्द्ररूपेण, द्यावापृथिवीरूपेण, भृग्वाङ्गिरारूपेण, शीतोष्मरूपेण, गत्यागतिरूपेण सर्वत्र प्रसरति। अनयो: मिथ: संगमनमेव यज्ञ:। तद्यथा देवपूजासंगतिकरण–दानार्थकात् यज धातो: यज्ञ–शब्दो निष्पन्न:। आदानप्रदानेन देवानां पोषणं भवति। तत्त्वस्य तत्त्वान्तराद्संगमनेन अपूर्वोत्पत्तिर्भवति आत्मनश्च अन्यत्र समर्पणं भवति। समर्पणं त्रिविधम्। धनादे: समर्पणं दानम्। भोजनसुखादे: समर्पणम् अनशनादितप:। आत्मसर्पणं पुनर्यज्ञ:। तस्मात् सर्वत्र यज्ञप्रकरणे यजमान: आत्मानमेव समर्पयति आहुतिरूपेण। तस्मात् पुरुषसूक्ते पुरुष एव पशुत्वेन बद्ध:–**''देवा: यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्।''**[८]

दानानुरुपमादानं भवति। दाने द्रव्यत्याग:, तस्य फलं लघु। तपसि सुखत्याग:, तस्य फलं बृहत्तरम्। यज्ञे पुनरात्मत्याग:। तस्माद् यज्ञस्य फलं वृहत्तमम्। अतएवोच्यते–सर्वेभ्यो हि कामेभ्यो यज्ञ: प्रयुज्यत इति।[९] यत: यज्ञे आत्मा समर्प्यते तस्मात् प्राकृतिकं जन्म समाप्तिमाप्नोति। नवीनं च जन्म सम्पद्यते। तदेव द्विजत्वम्। प्राकृतिकं जन्म अस्मै लोकाय, यज्ञात् जन्म परस्मै लोकाय।**''द्विर्ह वै यजमानो जाते मिथुनादन्यत् जायते यज्ञादन्यत्। तद्यन्मिथुनाद्जायते तदस्यै लोकाय जायते। अथ यद् यज्ञाज्जायते तदमुष्मै लोकाय जायते।''**[१०]

यज्ञस्य अयं विधि:। प्रकृतौ यद् यथा भवति तत् तथा कर्त्तव्यम्। ''यद्वै देवा: अकुर्वंतत् करवाणि''[११] तत्र स्वकल्पनया मनुष्य: यदि परिवर्तते तर्हि यज्ञस्य व्यृद्धं–''व्यृद्धं वै तत् तद्यज्ञस्य यन्मानुषम् शास्त्रेषु''[१२] सर्वं वैधयज्ञस्य प्राकृतयज्ञानुरूपत्वं

प्रदर्शितम्। तद्यथा 'यदि दन्ताः तर्हि पुरोऽनुवाक्या, न चेद् दन्ताः न पुरोऽनुवाक्या' इति नियममनुसृत्य दर्शपौर्णमासे पुरोऽमुवाक्यायाः अयं क्रमः–

१. सद्यः जातस्य शिशोर्न दन्ताः

१. प्रयाजेषु न पुरोऽनुवाक्या

२. किञ्चिद् वृद्धस्य बालकस्य पुनर्दन्ताभावः

२. द्वितीय हविर्विना पुरोऽनुवाक्याम्।

३. किञ्चिद् वृद्धतरस्य बालकस्य पुनर्दन्तोद्भवः

३. पत्नी–संयाजे पुनरनुवाक्या।

४. वृद्धावस्थायां पुनर्दन्ताभावः

४. अन्ते समीष्टयजुषि न पुरोऽनुवाक्या।

इत्येवं स्थाने स्थाने बहुत्र वैधयज्ञस्य प्राकृतिकयज्ञानुरूपता शास्त्रे प्रपञ्चिता। प्रकृतिनिरीक्षणं विज्ञानस्य आत्मा। प्रकृतिनिरीक्षणं विना च वैधयज्ञप्रक्रियानिर्णयोऽपि न संभवतीति यज्ञानां विज्ञानोपोद्बलकत्वं स्वतः सिद्धम्।

यज्ञः पाङ्क्तः।[१३] कारण–सूक्ष्म–स्थूल–शरीराणि त्रीणि आद्यपृष्ठानि स्पृश्यानि। मध्यवर्त्ति १७ अहर्गणपर्यन्तं मध्यपृष्ठं पदार्थस्य आकर्षण–शक्तिक्षेत्रम् आहवनीयामित्युच्यते, तत्पर्यन्तमेव सोमस्य आहवनसंभवात्। तदनन्तरं अन्तिमं बहिर्पृष्ठं ३३ अहर्गणपर्यन्तम्। तावत् पदार्थो दृग्गोचरीभवति। कारण शरीरमुक्थम्। सूक्ष्मशरीरं विराट्। स्थूल शरीरं वैराजम्। मध्यपृष्ठं छन्दस्यम्। बहिर्पृष्ठं च सर्वमिति पञ्चपृष्ठानि यज्ञाङ्गभूतानि। तस्मात् पांक्तो वै यज्ञः।

परवर्तिदर्शने यत्पञ्चीकरणं तदैव यज्ञप्रकरणे सर्वहुतयज्ञ इत्युच्यते। पञ्चीकरणप्रक्रियायां तत्त्वं सर्वथा आत्मानं जुहोति। पञ्चानामपि तत्त्वानां पञ्चस्वपि तत्त्वेषु आहुत्या तत्त्वान्तरोत्पत्तिः सूक्ष्मात् स्थूलोत्पत्तेः प्रक्रिया। इयमेव सृष्टिप्रक्रिया। तस्मात् यज्ञं विना न किञ्चित्सृज्यते। सृष्टिमूलभूतस्य अस्यैव यज्ञस्य पुरुषसूक्ते विवरणम्। अत्र यज्ञे सोमाभावात् पुरुषस्यैव हविः कल्प्यते–**''यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।''**[१४]

तानिधर्माणि प्रथमान्यासन्निति कृत्वा यज्ञेषु आत्मैवार्प्यते। इदमात्मार्पणमेव निष्कामकर्म्मणः मूलम्। निष्कामकर्म्मणोमहिमा गीतायां विस्तरतः प्रपञ्चितः। तद्द्वारा च सर्वक्रियाकलापस्य यज्ञमयत्वं समर्थितम्–

''यज्ञार्थात्कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः''[१५]

स्वोपकाराय तपः। परोपकाराय दानम्। सर्वोपकाराय च यज्ञः। तस्मादेतानि त्रीणि न त्याज्यानि–

''यज्ञदानतपः कर्म्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्''[१६]

इत्थं यज्ञो न केवलम् इहलोकं परलोकं प्रत्युत मोक्षमपि साधयति इत्यलम्।

शोधच्छात्रः

दिल्लीविश्वविद्यालयः

सन्दर्भः–

१. तैत्तिरीयारण्यकम्, १०.६४।

२. कादम्बरी, मङ्गलश्लोकः।

३. माध्यन्दिन–शतपथब्राह्मणम् ५.२.३.६।

४. माध्यन्दिन शतपथब्राह्मणम् ११.१.६.१६–२०।

५. तथैव। ६.१.३.१०।

६. कोषीतकी ब्राह्मणम् १८.२।

७. जैमिनीयब्राह्मणम् २.४३११।

८. ऋग्वेद १०.९०.७।

९. तैत्तिरीय संहिता २.४.११.२।

१०. जैमिनीयब्राह्मणम् १.२५९।

११. तथैव।

१२. माध्यन्दिन शतपथब्राह्मणम् १.४.१.३५।

१३. तैत्तिरीयसंहिता ५.२.३.६।

१४. ऋग्वेदः, १०.९०.६।

१५. गीता ३.९

१६. गीता १८.५

कारकविषयक विभिन्न परिभाषायें

-सरिता कुमारी

भाषा वह तत्व है जिसका उपयोग मानव जाति की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति से लेकर विश्व मानव की समष्टि तक करती है। संसार के एकान्त में रहने वाला व्यक्ति अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है तथा विश्वविख्यात व्यक्ति भी अपने विचारों को किसी न किसी भाषा का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्त कर सकता है।

''वस्तुत: भाषा यादृच्छिक वाचिक ध्वनि संकेतों की वह पद्धति है जिसके द्वारा मानव परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता है।[१]''

भाषा के मुख्यतया दो आधार होते हैं जिसमें एक विचारों से सम्बन्धित है तथा दूसरा उच्चारण से। प्रत्येक कथन के पीछे कुछ विचार या चिन्तन होता है, उसका विवेचन या विश्लेषण करना भाषा का मानसिक पक्ष है। जब वह मन में विश्लेषित विषय को दूसरे के सम्मुख प्रकट करना चाहता है। उसके लिए भाषा में प्रयुक्त होने वाले विशेष ध्वनि संकेतों का आश्रय लेकर वाक्य के रूप में अपने वाग्यन्त्रों की सहायता से अथवा लिपि की सहायता से लिखित रूप में प्रकट करता है। अत: ''भाषा की एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में सर्वसम्मत तथा स्वीकृत इकाई वाक्य लघुतम तथा पूर्ण सार्थक होता है।''[२]

वाक्य में विद्यमान विभिन्न घटकतत्वों में वैयाकरण क्रिया की प्रधानता स्वीकार करते है। वाक्य के अन्य घटकतत्व उससे (क्रिया से) सम्बन्धित होते हैं। परन्तु वाक्य के विभिन्न घटकतत्वों का क्रिया के साथ सम्बन्ध सदैव समरूप नहीं होता है। उन सम्बन्धों के स्वरूप की विभिन्नता को विभिन्न नामों (कारकों) के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।

विश्व में विद्यमान विभिन्न भाषाओं में कारकों की अभिव्यक्ति प्राय: दो प्रकार से दृष्टिगोचर होती है। कुछ ऐसी भाषायें होती है जिनमें वाक्य में शब्दों की स्थिति के अनुसार कारकत्व का निर्धारण होता है। यथा:- अंग्रेजी भाषा में सामान्यतया वाक्य के प्रारम्भ में आने वाले शब्द को कर्त्ता तथा अन्त में रखे जाने वाले शब्दों को कर्म कहते हैं।

कुछ ऐसी भाषायें होती है जिनमें कारकों की अभिव्यक्ति के लिए प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। यथा:- संस्कृत भाषा में अम्, टा इत्यादि प्रत्ययों के द्वारा कारकों की अभिव्यक्ति की जाती है। ये भाषायें प्रकृतिप्रत्ययमूलक होती है। अंग्रेजी में इन्हें ष्प्दमिबजपवद स्ंदहनंहमष के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार संस्कृत भाषा में वाक्य में विद्यमान क्रिया के साथ क्रियेतर घटकतत्वों के सम्बन्धों का विश्लेषण विभिन्न प्रत्ययों के आधार पर किया जाता है।

वाक्य द्वारा अर्थाभिधान में कारक का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अत: विभिन्न वैयाकरणों ने व्याकरण परक ग्रन्थों में कारक के स्वरूप को स्वस्वदृष्टिकोण के द्वारा परिभाषित करने का प्रयास किया है।

पाणिनीय व्याकरण में कारकों के स्वरूप और तत्तत्कारकों को अभिव्यक्त करने वाली विभक्तियों के विषय में विस्तार से विचार किया गया है। परन्तु कारक की सामान्य परिभाषा को लेकर पाणिनि मौन दिखाई देते हैं। उन्होंने कहीं भी कारक को परिभाषित नहीं किया। संभवतया पाणिनि के समय में प्रचलित कारक शब्द इतना सामान्य तथा पूर्व आचार्यों के द्वारा विश्लेषित रहा होगा कि पाणिनि ने उसकी चर्चा में अपना समय तथा सामर्थ्य को लगाना अपेक्षित

नहीं समझा होगा या फिर पाणिनि ने 'कारक' इस महती अन्वर्थसंज्ञा का प्रयोग करके व्युत्पतिलभ्य अर्थ को ही इसके संज्ञी के रूप में स्वीकार करने का संकेत दिया होगा। पाणिनि का आशय जो भी रहा हो परन्तु पाणिनि परम्परा में विद्वानों ने कारक शब्द को समझने के लिए और पाणिनि के आशय को हृदयंगम करने के लिए निरंतर प्रयास किया है। इसी श्रृंखला में कारक शब्द का विश्लेषण करते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा ''करोतीति कारकम्''[३]

अर्थात् जो क्रिया को करता है वह कारक कहलाता है। वस्तुत: महाभाष्यकार ने कारक शब्द को अन्वर्थ संज्ञा मानते हुए उसकी व्युत्पत्ति के आधार पर कारक की यह परिभाषा दी है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जो क्रिया को करता है अर्थात् क्रिया के निष्पादन में समर्थ है वह कारक कहलाता है। महाभाष्यकार द्वारा उद्धृत कारक की परिभाषा की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार कहते हैं:-

साध्यत्वेन क्रियैव शब्दात्प्रतीयते इति क्रियायार्निवर्तकस्य कारकसंज्ञाऽपादानादिसंज्ञा च प्रवर्तते।[४]

अर्थात् क्रिया ही साध्य अर्थात् निष्पत्ति से युक्त होने के कारण शब्दों से प्रतीत होती है, अत: क्रिया के निर्वर्तक अर्थात् निष्पादक होने से इनकी कारक संज्ञा तथा अपादानादि संज्ञा होती है।

पुनश्च 'कारक' पद की व्युत्पन्न अवस्था में क्रिया का निष्पादक होने पर प्रदीपकार कैयट द्वारा ''क्रियाया: निर्वर्तकस्य'' यहाँ पुन: निर्वर्तक पद का ग्रहण करने के विषय में उद्योतकार का कथन है:-

क्रियाया एवं शब्देन साध्यत्वप्रतीतेर्निर्वर्तकार्थे कारकशब्दे संबन्ध्याकांक्षायां सैव सम्बन्ध्यते।[५]

अर्थात् शब्द से क्रिया के ही साध्यरूप में प्रतीति होने से तथा कारक के निर्वर्तक अर्थ में (प्रयुक्त होने से उसके) उसकी सम्बन्धी की आकांक्षा होने पर क्रिया ही सम्बन्धी अर्थात् साध्यरूप में सम्बद्ध होती है।

प्रौढ़ मनोरमाकार ने भी महाभाष्यकार की तरह 'कारक' को अन्वर्थसंज्ञा माना है:- ''अन्वर्था चेयं संज्ञा करोतीति कारकमिति। तेन क्रियानन्वयिनो न भवति। ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छतीति। इह हि ब्राह्मण: पुत्रविशेषणं न तु क्रियान्वयि।''[५]

अर्थात् कारक यह अन्वर्थसंज्ञा है। अन्वर्थ संज्ञा होने के कारण जो क्रिया को करता है वह कारक कहलाता है। प्रौढ़मनोरमाकार पुन: कारक को अन्वर्थसंज्ञा मानने के प्रयोजन के विषय में कहते हैं:-

इससे जो क्रिया के अन्वयी नहीं है उनकी कारकसंज्ञा नहीं होती। ''ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पुच्छतीति'' इस वाक्य में 'ब्राह्मण' पद 'पृच्छति' क्रियापद का साक्षात् रूप से अन्वयी न होने के कारण 'बाह्मण' पद में कारकत्व विद्यमान नहीं है क्योंकि 'ब्राह्मण' पद 'पुत्र का विशेषण है, न कि क्रिया का अन्वयी। ब्राह्मण का पुत्र के साथ जन्यजनकभाव सम्बन्ध होने के कारण तथा साक्षात् रूप से 'पृच्छति' क्रियापद से सम्बन्धित न होने के कारण ब्राह्मण पद में कारकत्व विद्यमान नहीं है।

प्रौढ़ मनोरमाकार ने कारक विषयक एक अन्य परिभाषा को उद्धृत करते हुए कहा है:- ''यद्वा कारकशब्द: क्रियापर:। करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशानिति व्युत्पत्तेः। तथा च अपादानादिसंज्ञाविधौ क्रियायामित्यस्योपस्थित्या क्रियान्वयिनामेव तत्तत्संज्ञा विधीयते।[६]

अर्थात् अथवा यह कारक शब्द क्रिया का ही वाचक है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से जो कर्ता कर्म आदि के व्यपदेश (व्यवहार) का कारण बनता है। वह कारक कहलाता है। इस प्रकार 'कारक' को क्रियापरक मानने से अपादानादि संज्ञाओं के विधान क्षेत्रों में ''क्रियायाम्'' इसकी उपस्थिति होने से

क्रिया के अन्वयी पदों की ही ''अपादान'' इत्यादि संज्ञायें होती हैं।

प्रौढ़ मनोरमाकार द्वारा दी गई कारक विषयक परिभाषा की व्याख्या करते हुए शब्दरत्नाकार ने कहा है:- क्रियाञ्जनयतीत्यर्थः। तज्जनकं च प्रत्यासत्या तत्रैवान्वेति।[७]

अर्थात् ''जो क्रिया को उत्पन्न करता है'' यह कारक शब्द का यह अर्थ है। उस जनक अर्थात् कारक के सामीप्य के कारण क्रिया का उससे (कारक से) ही अन्वय होता है।

अर्थात् जिसमें क्रिया का जनक बनने की योग्यता है वह 'कारक' कहलाता है। क्रिया तथा कारक में जन्य जनकभाव सम्बन्ध होने से प्रत्यासत्ति न्याय अर्थात् सामीप्य के कारण कारक का क्रिया के साथ ही अन्वय होता है।

काशिकाकार ने कारक को परिभाषित करते हुए कहा है:-

''कारकशब्दश्च निमित्तपर्यायः''[८]

अर्थात् कारक शब्द निमित्त का पर्यायवाची है। निमित्त से अभिप्राय 'कारण' है। 'कारण' में 'कार्य' को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है। 'कारक' को 'निमित्त' का पर्यायवाची कहने का अभिप्राय 'कारक' में क्रिया को उत्पन्न करने के सामर्थ्य को दर्शाना है। जो क्रिया को उत्पन्न करने की योग्यता से युक्त होता है उसे कारक कहते हैं।

भवानन्द सिद्धान्तवागीशभट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'कारकचक्रम्' में वैयाकरणों की कारकविषयक परिभाषा को उद्धृत करते हुए कहा है:-

''क्रियानिमित्तत्वं कारकत्वम्।''[९]

जो क्रिया का निमित्त अर्थात् कारण होता है। जिसमें क्रियारूपी कार्य को निष्पन्न करने की योग्यता होती है। वह 'कारक' कहलाता है।

'कारकचक्रम्' की माधवी व्याख्या में माधवीकार ने वैयाकरणों के मत को उद्धृत करते हुए कहा है:- ''कारकं स्यात् क्रियामूलं क्रियाधात्वर्थ उच्यते।''[१०]

अर्थात् क्रिया के मूल अर्थात् कारण को कारक कहते है। क्रिया धात्वर्थ को कहा जाता है। किसी भी धातु का जो अर्थ है, उस धात्वर्थ से संकेतित जो क्रिया मानी जाती है, उस क्रिया का जो मूल अर्थात् कारण या जनक है, वह कारक कहलाता है।

''क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्।''[११]

अर्थात् क्रिया के अन्वयी को कारक कहते है। क्रिया तथा कारक में परस्पर अन्वयान्वयिभाव सम्बन्ध होते है। जिसमें क्रिया अन्वयभाव से समाहित होती है, वह कारक कहलाता है।

माधवीकार ने कारकविषयक एक अन्य परिभाषा को उद्धृत करते हुए कहा है:-

''धात्वर्थान्वयायोग्यत्वं शेषत्वं शेषभिन्नत्वं
कारकत्वम्''[१२]

अर्थात् जिनमें धात्वर्थ (क्रिया) के साथ अन्वित होने की योग्यता का अभाव होता है, वे 'शेष' कहलाते हैं तथा जो शेष भिन्न है अर्थात् जिसमें धात्वर्थ (क्रिया) के साथ अन्वित होने की योग्यता है वे 'कारक' कहलाते हैं।

उद्योतकार ने कारक को परिभाषित करते हुए कहा है:-

कारकत्वञ्च क्रियाजनकत्वम्। करोति क्रियां
निर्वर्तयतीति।[१३]

अर्थात् क्रिया के जनक को कारक कहते हैं। जो क्रिया का निर्वर्तन अर्थात् निष्पादन करता है। क्रिया के साथ जन्यजनकभाव सम्बन्ध होने के कारण जिसमें क्रिया का जनकत्व विद्यमान होता है, वह कारक कहलता है।

कारक के विषय में भर्तृहरि का मत है:-

सर्वत्र सहजा शक्तिर्यावद्द्रव्यमवस्थिता।
क्रियाकाले त्वभिव्यक्ताराश्रयादुपकारिणी।।[१4]

अर्थात् शक्तिस्वरूपसाधन द्रव्यों के साथ सहजात है। यह तब बनी रहती है जब तक द्रव्य रहता है। इसकी अभिव्यक्ति तब होती है जब द्रव्य को क्रिया की सिद्धि में उपकारक बनना हो।

अर्थात् साधन अर्थात् कारक पदार्थ के साथ उत्पन्न होते है। किसी भी पदार्थ की उत्पति के समय उसमें तत्सम्बन्धी क्रिया को निष्पन्न करने का सामर्थ्य विद्यमान रहता है। इस सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तत्सम्बन्धी क्रिया की निष्पति में तब होती है, जब द्रव्य द्रव्यसम्बन्धी क्रिया की निष्पत्ति में उपकारक अर्थात् सहायक बनता है। वस्तुत: जब द्रव्य किसी क्रिया में सहायक बनता है तब उसमें जो साधन अर्थात् कारकशक्ति विद्यमान होती है उसकी अभिव्यक्ति होती है।

११९, **गौतम नगर**
नई दिल्ली-४९

संदर्भ

१. A Language is a System of arbitrary vocal symbols by means of which a social group co-operates. Outlins of linguistic analysis, B. Block and G.L. Trager. p.५
२. सार्थं लघिष्ठं पूर्णार्थं वाक्यं स्यात् भाषणाङ्गकम्। भाषाविज्ञान, कपिलदेव द्विवेदी, पृ. २९९
3. पतञ्जलि, महाभाष्य, पृ. ७
४. कैयट, प्रदीप, पृ. ७
५. भट्ट, नागेश, उद्योत, पृ. २४१
६. दीक्षित, भट्टोजि, प्रो. म., पृ. ४६६
७. वही - पृ. ४६७
८. दीक्षित, हरि, लघुशब्दरत्न, पृ. ४६७
९. जयादित्य वामन, काशिकावृत्ति, पृ. ५33
१0. भट्टाचार्य भवानन्द सिद्धान्तवागीश, का.च., पृ. 5
११. वही, पृ. २
१२. तर्कालंकार, माधव, माधवी व्याख्या, पृ. १,२
१३. वही, पृ. २
१४. वही, पृ. २

सूचना

विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों के सभी प्राध्यापकों एवं शोधच्छात्रों के लिए हर्ष का विषय है कि-'आर्ष-ज्योति:' का मूल्याङ्कित शोध विशेषाङ्क पहले प्रतिवर्ष में एक ही बार प्रकाशित होता था परन्तु अब त्रैमासिक कर दिया गया है। यह पत्र अन्ताराष्ट्रिय मूल्याङ्कित शोधपत्र (ISSN-२२७८-०९११२) है। विशेषाङ्क हेतु आप अपने शोध लेख प्रेषित कर सकते हैं। आप अपने शोध लेख AAText Font अथवा walkman-chanakya-901 में पेजमेकर प्रोग्राम में मुद्रित कर व पूर्ण संसोधन (प्रुफ देखकर) कर सी.डी. बना डॉक एवं ई.मेल द्वारा प्रेषित कर सकते हैं। शोध लेख परीक्षणोपरान्त प्रकाशनार्ह हैं।

-कार्यकारी सम्पादक (आर्ष-ज्योति:)

ई.मेल-arsh.jyoti@yahoo.in , दूरभाष-८८१०००५०९६, ९४१११०६१०४

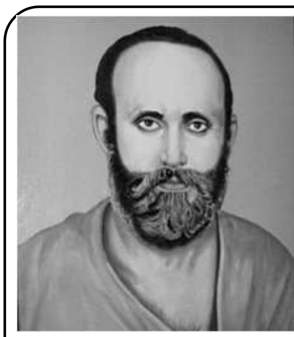

अथ श्री ओमानन्द लहरी

– आचार्य यज्ञवीर व्याकरणाचार्य

सहृदया:! पाठका: पत्रिकाया: अस्मिन् संस्कृतभागे श्री ओमानन्दलहरी नामकं पुस्तकं गतमासात् प्रभृति क्रमश: प्रकाश्यते। श्लोकानामार्यभाषा अपि आचार्य धनञ्जयकृता सहैव प्रकाश्यते येन बोधगम्यता स्यादिति – **कार्यकारिसम्पादक:**

क्रमश:...........

आभास: अन्यच्च किं किं वैशिष्ट्यमिति वर्णयन्नाह–

सदा शास्त्रे राग: सततगतरागो विमलधी:,
मुदैकान्तेवास: क्वचिदपि च सातत्यगमनम्।
कदाचिन्मौनी स: कुहचिदपि वेदप्रवचनम्,
चकास्त्योमानन्द: सुकलयितसंन्यस्तचरित:।।२१।।

व्याख्या: विमलधी:=पवित्रबुद्धि: सततगतराग:= निरन्तरसमाप्रानुराग: (तथा अपि) तस्य सदा शास्त्रे राग:=दर्शने आर्ष=ग्रन्थेषु वा अनुरागो वर्तते सर्वदा मुदा=प्रसन्नतया हर्षेण ' मुदेर्भावे क्विप् मुत् तया मुदा' 'मुत्प्रीति: प्रमदो हर्ष: प्रमोदामोदसम्पदा:' इत्यमर:। एकान्तेवास:=निर्जने स्थाने वास: क्रियते (तथापि) क्वचित् अपि=अपि तु कुत्रचित् सातत्यगमनम्=निरन्तरचलनं क्रियते वेदप्रचारादि यात्रासु, कदाचिन्मौनी=कस्मिंश्चित् काले अवचन:, मौनी मुनेर्भाव: मौनं मौनमस्यास्ती मौनी कुहचिदपि च=क्वापि च वेदप्रवचनम्=वैदिकमन्तव्यानां व्याख्यानं दीयते सुकलयितसंन्यस्तचरित:=सुकलयितं सम्यक्तया धारितं संन्यस्तस्य संन्यासिन: चरितमाचरणं येन स: ओमानन्द:=काव्यनायक: स्वामिवर्य: चकास्ति=देदीप्यमानोऽस्ति।

आर्यभाषा: शुद्धबुद्धिवाला निरन्तर वीतराग था परन्तु शास्त्रों में सदा उनका राग बना रहता था, अतिहर्ष से एकान्तवास करते थे परन्तु कभी निरन्तर भी वेदप्रवचन करते रहते थे, इस प्रकार अच्छी तरह संन्यासी का आचरण करने वाला ओमानन्द सरस्वती सदा देदीप्यमान रहता है।।२१।।

आभास: स्त्रीभ्यो वैदिकशिक्षाप्रदानाय गुरुकुलसंस्थापनं वर्ण्यते–

पठेतां स्त्रीशूद्रौ न हि हवनकार्यञ्च कुरुताम्,
न कुर्यास्तान्तौ च श्रवणमपि वेदस्य वचनम्।
कुरीतिं संहर्तुमबलवनितानां गुरुकुलम्,
स्वभूमौ संस्थाप्य श्रुतिपठनकार्यं विहितवान्।।२२।।

व्याख्या : स्त्रीशूद्रौ=स्त्री च शूद्रश्च तौ, न पठेताम्=पठनं न कुर्यास्ताम्, हवनकार्यम्=यज्ञकर्म अपि न कुरुताम्=नैव कुर्यास्ताम्, तौ च पूर्वोक्तौ स्त्रीशूद्रौ वेदस्य=श्रुतेर्वचनम्=उच्चारणक्रियां श्रवणम्=श्रवणक्रियां च न कुर्यास्ताम्=विदधेताम्। कुरीतिं=इत्थं भूतां कुत्सितां रीतिं संहर्तुम्=समापनाय अबलवनिनाम्=बलरहितानां स्त्रीणां स्वल्पबलानां वा 'इषदर्थेऽपि नञ्' स्यात्, गुरुकुलम्=आचार्यकुलं पाठशालां स्वीभूमौ संस्थाप्य=स्वकीयायां धरायां निर्माय, श्रुतिपठनकार्यम्=वेदस्य पठनपाठनकार्यं विहितवान्=कृतवान् इति एवं वेदाज्ञाया: पालनं क्रियते–'यथेमां वाचं कल्याणी मा वदानि जनेभ्य:' इति (यजु.२६.२)।

आर्यभाषा: स्त्री और शूद्र न पढ़े और वे न हि हवनादि कर्म करें, वेद का उच्चारण एवं श्रवण भी वे दोनों न करें। इस कुरीति का विनाश करने के लिए अबला कही जाने वाली निर्बला स्त्रियों का गुरुकुल अपनी भूमि में संस्थापित करके वहाँ वेद पठनपाठन का कार्य भी प्रारम्भ किया।

आभास: आचार्यवर्यै हिन्दीरक्षासत्याग्रहे कृतस्य जनान्दोलनस्य हिन्दीभाषी राज्यस्य पुनर्गठनाय च कृतस्य सफलप्रयत्नस्य वर्णनं कुर्वन्नाह–

स्वहिन्दीरक्षायै निखिलजनशक्तिमलभत,
जनाञ्चैवान्दोल्य नमनवशगं शासनमहो।
चकारौमानन्दो निगमपथगामी सुचरितः,
स्वहिन्दीराज्यार्थं खलु परमसाफल्यमविदत्।।२३।।

व्याख्याः स्वहिन्दीरक्षायै=निजभाषायाः हिन्दीभाषायाः रक्षणाय निखिलजनशक्तिमलभत=सम्पूर्णार्यजनानां समर्थ्य समर्थनं प्राप्तवान् अहो!=आश्चर्यमिदं यत् असंख्यान् जनान् च आन्दोल्य=आन्दोलनाय प्रेरयित्वा शासनं कठोरं पंजाबशासनं नमनवशगम्=नमनाय वशीभूतं चकार=कृतवान्, निगमपथगामी=वैदिकमार्गानुयायी श्रीमान् ओमानन्दः=इत्याख्यः सुचरितः=शोभनं चरितं यस्य सः, स्वहिन्दीराज्यार्थम्=निजहिन्दीभाषाभाषिणो हरयाणाराज्यस्य स्थापनायै अपि परमसाफल्यं महतीं सफलताम् अविदत्=अलभत इति। अविदत्='विदलृ लाभे' तुदादिगणीयस्य धातोः लुङि लकारे परस्मैपदे प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां तिपि शे अटि च कृते रुपम्।।२३।।

आभासः कठिनतरकार्यस्यकरणात् पूज्यगुरुदेवस्मर्यते-
दयानन्दस्यर्षेः मतमतिपुनीतं प्रथितवान्,
सदार्षग्रन्थानां लिपिकृतिरथोत्कीर्णसुलभाम्।
सुताम्रपत्रीयां जनगणकृतेऽकारयदिह,
जयत्योमानन्दः कठिनतरकार्यस्य करणात्।।२४।।

व्याख्या : ऋषेः=कान्तद्रष्टुः दयानन्दस्य=दयानन्दस्य=दयायाः आनन्दस्य मतम्=मन्तव्यम्, अतिपुनीतम्=परमं पवित्रं प्रथितवान्=प्रसारितवान्, जनगणकृते=जनानां गणः जनगणः, जनगणस्य कृते जनगणकृते नरसमूहार्थम् सदार्षग्रन्थानाम्=श्रेष्ठानामार्षपुस्तकानां सत्यार्थ-प्रकाशादीनाम्, सुताम्रपत्रीयाम्=शोभनां ताम्रपत्रे भवां उत्कीर्णा लिपिकृति=देवनागर्याः लिप्याः लेखनकार्यमुत्कीर्णसुलभाम्=धातुविशेषपत्रके इह=अत्र सुलभाम्=सौकर्येणोपलब्धाम्, कठिनतरकार्यस्य=अतिकठिनकार्यस्य करणात् सम्पादनात् एव ओमानन्दः=गुरुवर्य जयति=विजयते इति।।

आर्यभाषाः क्रान्तदर्शीमहर्षि दयानन्द के परमपवित्र मन्तव्यों को प्रसारित किया, मनुष्य समूह के लिए अच्छे आर्षग्रन्थों का सुन्दर ताम्रपत्र पर देवनागरी लिपि का कार्य यहाँ पर उत्कीर्ण कराके (खुदवाकर) सुलभ कराया। इसके बाद अति कठिन कार्य को करने के कारण ही स्वामी ओमानन्द की जय जयकार होती है। सत्यार्थप्रकाश सम्पूर्ण कराके ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका थोड़ी-सी करा पाये।।२४।।

अभासः आपदायां समुपस्थितायां गुरुवर्याणामापदा-प्रबन्धनकौशलं सेवाकार्य च वर्णयन्नाह-
विनाशायोद्भूताप्रबलपयसोधात्कुविपदा,
प्रजाः खिन्ना रुग्णाः ज्वरजनितपीडामुपगताः।
नृणान्नैरोग्यार्थं दिवि निशि च येते यतिवरः,
अमूल्यं भैषज्यं व्यतरदतियत्नेन कविराट्।।२५।।

व्याख्याः विनाशाय=नाशकरणाय कुविपदा=दुरापदा, प्रबलपयसोघात्=प्रकृष्टजलप्लावनात् उद्भूता=उत्पन्ना जाता १९६० तमे वर्षे रोहतक झज्जररेवाड़ी प्रभृतिषु क्षेत्रेषु महती जलप्लावनेन हानि जाता तस्यां विपत्तौ प्रजा=तत्रत्याजनता खिन्नारुग्णाः=अतिदुःखिता रोगग्रस्ता च जाता ज्वरजनितपीडाम्=ज्वराख्येन रोगेण उत्पन्नां पीडाम्, कष्ठं उपगता=प्राप्तवती तस्मिन् आपत्काले यतिवरः=संन्यासिवर्यः, नृणाम्=नराणाम् नैरोग्यार्थम्=रोगराहित्यार्थम्, जनान् रोगमुक्तान् कर्तुमित्यभिप्रायः, द्यवि=दिने निशि=रात्रौ च येते=परमयत्नवान् अभवत्, कविराट्=वैद्यराजः अतियत्नेन=पूर्णप्रयासेन अमूल्यम्=महार्घम् बहुमूल्यवत्, विना मूल्यमित्यपि अर्थः कर्तुं शक्यः निःशुल्कमिति यावत् भैषज्यम्=औषधम् (भैषज्यम् अनन्तावसथेतिह भेषजाञ्यः) इति सूत्रेण भेषजात् स्वार्थेञ्य प्रत्यये रुपं व्यतरत्=अमूल्यं विना मूल्यं वितरणमकरोत्।।

आर्यभाषाः विनाश के लिए तेज प्रवाह के जल प्लावन से उत्पन्न बड़ी मुसीबत आ गई बाढ़ के रुप में उससे

वहाँ की जनता दु:खी एवं रोगी हो गई ज्वर से प्राप्त पीडा से पीडित हो गई तब यतिवर वैद्यराज ने दिनरात लोगों की नीरोगता के लिए यत्न किया बहुमूल्य औषधियाँ बिना मूल्य लिए ही निःशुल्क जनता में प्रयत्न पूर्वक वितरित की।।२५।।

आभासः पुनस्तदेव वर्णयन्नाह-

स वस्त्रान्नादीनां वितरणमपीहातिरभसम्,
अकार्षीद् वर्णीन्द्रः परहितरतो लोभरहितः।
''दरिद्रान् कौन्तेय प्रभर'' इति गीताकथनकृत्,
चकास्त्योमानन्दो जलजनितपीडाप्रहरणः।।२६।।

व्याख्याः सः=पूर्वोक्तः ओमानन्दः वस्त्रान्नादीनाम्=वसनखाद्यान्नादीनां च वितरणं अतिरभसम्=अतिशीघ्रम्, इह=अस्मिन् क्षेत्रे अकार्षीत्=अकरोत् परहितरतः परस्य हिते एव यो रमते सः, लोभरहितः=लोभेन रहितो यः सः वर्णीन्द्र=ब्रह्मचारिषु श्रेष्ठः 'ब्रह्मचारी बटुवर्णी' वर्णात् ब्रह्मचारिणि ५.२.१३४ सूत्रेण वर्णाद् इनि प्रत्यये मत्वर्थीये कृते रुपम्, 'दरिद्रान्=अभावग्रस्तान् प्रभर=प्रकृष्टतया पौषय, कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्' इति गीतावचनं गीतावचनकृत्=गीतायाः वचनं यः करोति स ओमानन्दः इत्याख्यो यतिवरः, जलजनितपीडाप्रहरणः=वारिणा उत्पन्नायां पीडायां प्रहरति यः सः पयप्रसूतपीडाया अहरणे प्रसक्त इत्यभिप्रायः (जनित 'जन+णिच्+क्त' इत्थं सिद्धयति) चकास्ति=विराजते इति।।२६।।

आर्यभाषाः स्वामी जी ने कपड़े अन्न आदि भी अतिशीघ्र बाँटना प्रारम्भ कर दिया परोपकारी लोभ रहित ब्रह्मचारियों में श्रेष्ठ जलजन्य बिमारियों के दर्द पर रामबाण औषधियों द्वारा प्रहार करने वाला गीता के प्रसिद्ध वचन 'दरिद्रान् भर कौन्तेय' को पूरा करने वाला वह संन्यासिवर सुशोभित हो रहा है।।२६।।

आभासः गोरक्षासत्याग्रहे कारावासगमनं वर्ण्यते-

कृषेराधारा सा अदितिरनघा वेदगदिता,
तथा चाध्न्या प्रोक्ता पुनरपि हि हत्यामुपगता।
सुरक्षायै तस्याः यतिमुनिजनान्दोलनरताः,
सुधीरोमानन्दोऽगणितजनयुक्तो निगडितः।।२७।।

व्याख्याः सा=गोमाता कृषेराधारा=कृषिकर्मणः आधारभूता (अस्ति) तथा च वेदगदिता=तथा भूता वेदे कथिता अघ्न्या=सा वेदे कथिता अहन्तव्या भवति अघघ्नीति वा (निरुक्त-११.५३.९) एवं अवध्या अघं पापं हन्तीति वा अनघा=निष्पापा, पापरहिता अदिति=अदीना देवमाता प्रोक्ता=निगदिता पुनरपि=पुनश्चापि सा हि (किमर्थम्?) हत्यामुपगता=मृत्युं वधमुपगता=प्राप्तवती? (अतः एव) तस्याः=धेनोः सुरक्षायै=सुरक्षाकरणाय, यतिमुनिजनान्दोलनरताः=संन्यासिनः, मौनिनः, साधारणजनाश्च सर्वे एव आन्दोलनेरताः सुधीः=शुद्धबुद्धिः ओमानन्दः=काव्यनायकः अगणितजनयुक्तः=असंख्यै सत्याग्रहिभिर्जनैः सहितः निगडितः=निगृहीतः, कारागारे तिहाड़ाख्ये निक्षिप्तः पुनश्च फिरोजपुरस्थे कारागारे प्रेषिता अस्मदादिभिः शिष्यैः सह अन्यैश्च गोभक्तैः सह इति।।२७।।

आर्यभाषाः वह गौ माता कृषि की आधार होते हुए भी वेदों द्वारा अदिति, अघ्न्या, अनघा कहे जाने पर भी वह फिर भी क्यों हत्या को प्राप्त हो रही है? इसीलिए उस धेनु माता की सुरक्षा के लिए संन्यासी मुनि जनसाधारण सभी आन्दोलन में लग गये विमल बुद्धि ओमानन्द के नेतृत्व में असंख्य सत्याग्रहियों ने सत्याग्रह किया तथा गिरफ्तारी दी उन्हें गिरफ्तार कर पहले तिहाड़ जेल में उसके बाद हमारे जैसे शिष्यों के साथ एवं अन्य गोभक्तों के साथ फिरोजपुर जेल भेज दिया।।।२७।।

आभासः कुण्डलीग्रामे पशुवधगृहनिर्माणाय केन्द्रीय सर्वकारेण हरयाणासर्वकाराय प्रभूतं धनमावंटितं निर्माणकार्यं च प्रायः सम्पन्नं तत्रान्दोलनं कृत्वा स्वामिना महदुपकृतमिति निरुप्यते-

हरेर्भूम्यै केन्द्रः पशुवधगृहार्थं धनमदात्,
कृषेः प्राध्यान्यत्वात् कृषकजनतान्दोलनरता।
निजे कर्मक्षेत्रे स्वपरिचितनेतृन्नकथयत्,
इमं राज्ञो मार्गं गमनरहितं वै प्रकुरुत।।२८।।

व्याख्याः केन्द्रः=केन्द्रियसर्वकारः हरेः=शिवस्य भूम्यै=प्रदेशाय हरयाणासर्वकाराय इत्यभिप्रायः,

पशुवधगृहार्थम्=पशुहत्यागारनिर्माणाय, धनमदात्=धनराशिरावंटितः राशिः शब्दः पुंसिलिंगानुशासनस्य १०९ तमेन सूत्रेण। कृषे प्राधान्यत्वात्=कृषिकार्यस्य प्रमुखत्वात् कृषकजनतान्दोलने संलग्ना। निजे कर्मक्षेत्रे=स्वकीये कार्यक्षेत्रे स्वपरिचितनेतृन्=स्वकीयान् परिचितान् प्रमुखान् जननेतृन् अकथयत्=अवदत् इमं राज्ञोमार्गम्=एतं राजमार्गम् अर्थात् (जी.टी.रोड़ करनाल) नामकं मार्ग गमनरहितम्=गमनागमनाय निरुद्धं (जाम इति) प्रकुरुत=क्रियताम्।।२८।।

आर्यभाषाः केन्द्रिय सरकार ने हरयाणा सरकार के लिए पशुवधगृह (बूचड़खाना) निर्माण के लिए धन आवंटित कर दिया कृषि कार्य की प्रमुखता के कारण कृषकसमुदाय एवं जनता आन्दोलन में जुट गई पूज्य गुरु जी ने अपने सभी ग्रामादि इकाईयों के परिचित प्रधानों को निर्देश देते हुए कहा कि इस राजमार्ग जी.टी.के. रोड़ को यातायात रहित कर दो अर्थात् जाम लगाकर बन्द कर दो।।२८।।

आभासः आन्दोलनसाफल्यं वर्णयन्नाचष्टे–

जनानां सम्मर्दं प्रमुखजननेता विदितवान्,
तदा बंसीलालो निखिलजनभावानपिततः।
प्रणम्यौमानन्दं वधगृहविचारं स्थगितवान्,
जयोद्घौषेः सार्द्धं कृषकसमुदायो गृहमगात्।।२९।।

व्याख्याः तदा=तस्मिन् समये प्रमुखजननेता बंसीलालः=मुख्यमन्त्री बंसीलालाख्यो जनानां सम्मर्दम्=मनुष्याणां महान्तं सघनत्वं निखिलजनभावानपि=सम्पूर्णजनसमुदायस्य विचारान्नपि विदितवान्=ज्ञातवान् ततः=तस्मात् कारणात् ओमानन्दम्=स्वामिनमोमानन्दाख्यं प्रणम्य=प्रणामं कृत्वा वधगृहविचारम्=पशुहत्यागारस्य निर्माणविचार स्थगितवान्= त्यक्तवान्, कृषकसमुदायः=कृषकाणां सत्याग्रहीणां च समुदायो जयोद्घोषैः सार्द्धम्=जयशब्दस्य उच्चैः घोषणापूर्वकः गृहमगात्=स्व स्व गृहं प्रति गतः।।२९।।

आर्यभाषाः तब जननेता प्रमुख मुख्यमन्त्री बंसीलाल ने अपार भीड़ के विषय में तथा लोगों के अन्तर्भावों को भी जाना तब इसी कारण से स्वामी ओमानन्द को प्रणाम करके पशुवधगृह (बचूड़खाना) के बनाने का विचार स्थगित कर दिया तब सम्पूर्ण आन्दोलनकर्ता समूह, कृषक समुदाय जयघोषों के साथ अपने-अपने घर चला गया।।२९।।

आभासः केषां केषां जयोऽभवत् इत्वेवं वर्णयन्नाह–

जिताः आर्याः सर्वे कृषकजनता चापि विजिता,
जिताऽघ्न्या गोमाता जनगणसमूहोऽपि विजितः।
विजेतारो वीराः पशुवधविरोधे व्रतचराः,
जयत्योमानन्दः पशुधनसुरक्षानियमकृत्।।३०।।

व्याख्याः सर्वे आर्याः जिताः=विश्वे श्रेष्ठाः जना विजयं लब्धवन्तः कृषकजनता चापि विजिता=अपि च कृषिकर्मणि रताः तत्सम्बद्धा जनताश्च जिताः, जिताऽघ्न्या गोमाता अवध्या गोमाता विजयं प्राप्तवती, जनगणसमूहोऽपि विजितः=नराणां संगठनानां समूहोऽपि विजयं प्राप्तवान् पशुवधविरोधे=गवादिपशूनां वधस्य प्रतिकारे व्रतचराः=ये व्रतं चरन्ति ते वीराः=नरसिंहाः विजेतारः अपराजिताः (अभवन् इति शेषः) पशुधनसुरक्षानियमकृत्=गवादीनां पशूनां सम्पत्तेः सुरक्षायाः नियमः कृतो येन सः ओमानन्दः=इत्याख्यः यतिवर जयति विजयते।।३०।।

आर्यभाषाः सभी श्रेष्ठ लोग जीत गये, कृषक जनता भी जीत गई, अवध्या गोमाता जीत गई, जनगण समूह भी जीत गया। पशुहत्या के विरोध में व्रतधारी वीर भी विजेता बने, पशुधन की सुरक्षा का नियम करने वाला ओमानन्द भी विजय प्राप्त करता है।।३०।।

शेष अग्रिम अंक में....

जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं, जो आप और सब संसार को इस लोक आर्थात् वर्तमान जन्म में , परलोक आर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते है। वे ही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं। **–सत्यार्थ प्रकाश, पंचमसमुल्लास**

व्याकरण-शास्त्र में नियमसूत्र की अवधारणा

-सरिता कुमारी

अष्टाध्यायी के व्याख्या ग्रन्थ महाभाष्य, काशिका तथा काशिका की टीका न्यास एवं पदमञ्जरी में नियमसूत्रों के संदर्भ में कहा गया है- ''सिद्धे सति आरभ्यमाणो नियमार्थः'', अर्थात् जहाँ कोई कार्य सामान्य सूत्र से प्राप्त हो रहा हो वहाँ फिर से पृथक् स्वतंत्र सूत्र द्वारा उसी कार्य का विधान किसी नियम के प्रयोजन के लिए होता है। इस कथन को हम नियमसूत्र का लक्षण मान सकते हैं। लघुशब्देन्दुशेखर की शेखरदीपकं टीका में भी नियम का लक्षण 'अन्यनिवृत्तिफलकत्वे सति सिद्धार्थ-प्रतिपादकत्वं नियमसूत्रत्वम्'[१] ऐसा किया गया है।

विधिसूत्र या सामान्य-सूत्र की प्रवृत्ति-विषय में संकोच कर देने वाले सूत्र को नियमसूत्र कहा गया है। क्योंकि नियमसूत्र किसी कार्य का विधान नहीं करता अपितु विधि की नित्यप्रवृत्ति होने पर अभीष्ट कार्य की सिद्धि-हेतु उसका नियमन करता है। तात्पर्य यह है कि नियमसूत्र विधिसूत्रों के कार्य को संकुचित करता है। जैसे- 'संयोगान्तस्य लोपः'[२] सूत्र का कार्य है सभी संयोगान्तों का लोप करना। परन्तु यदि सभी संयोगान्तों का लोप कर देवें तो 'ऊर्क्, आदि के ककार का भी लोप प्राप्त होने लगेगा; जिससे अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी। अतः 'रात्सस्य'[३] सूत्र इसके कार्य को संकुचित करता है। 'रात्सस्य' के अनुसार रेफ से परे यदि किसी संयोगान्त का लोप होगा तो केवल सकार का ही होगा, सकारभिन्न अन्य वर्णों का नहीं। इस प्रक्रिया में स्पष्ट है कि विधिसूत्र (संयोगान्तस्य लोपः[४]) के कार्य को नियमसूत्र (रात्सस्य) ने संकुचित कर दिया। इसलिए यह लगभग सर्वमान्य है कि नियम का कार्य विधिसूत्र के कार्यक्षेत्र को संकुचित करना है।

नियमसूत्रों का गहराई से अध्ययन करने पर कुछ स्थल ऐसे भी प्रतीत होते हैं जहाँ नियमसूत्र वस्तुतः विधिसूत्र या सामान्यसूत्र के कार्यक्षेत्र को संकुचित नहीं करता, अपितु इसके विपरीत विधिसूत्र द्वारा निर्धारित क्षेत्र का विस्तार करते दिखलाई पड़ते हैं। इस सन्दर्भ में क्रादिनियम पर विचार कर सकते हैं। यह नियम हमें संकोच की अपेक्षा अर्थविस्तार करता हुआ दिखलाई पड़ता है।

क्रादिनियम में 'कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि'[५] सूत्र में पठित कृ, सृ, भृ तथा वृ ये चार धातुएँ नियमार्थ पढ़ी गई है। क्योंकि कृ, सृ, भृ ये तीन धातुएँ अनुदात्त हैं। अतः इनको 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' सूत्र द्वारा इट्निषेध सर्वत्र ही प्राप्त था; फिर प्रस्तुत सूत्र से पुनः इट् निषेध का प्रयोजन क्या हो सकता है?

'कृसृभृवृस्तु०'[५] सूत्र द्वारा पुनः इट् निषेध का प्रयोजन यह है कि लिट्लकार में 'कृसृभृवृ' इन चार धातुओं को छोड़कर अन्य ऋदन्त धातुओं को लिट्लकार में वलादि आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते इट् आगम हो जाए। अजन्त धातुओं से थल् परे रहते 'अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्' सूत्र भी इट् का निषेध करता है। परन्तु 'ऋतो भारद्वाजस्य' के अनुसार केवल ऋकारान्त धातुओं से ही थल् के परे इट् नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि भारद्वाज के मत में ऋकारान्त से भिन्न जो अजन्त धातुएँ हैं उनको थल् परे रहते भी इडागम हो जाए। यद्यपि 'कृ सृ भृ वृ' ये

धातुएँ ऋदन्त हैं तथा ऋदन्त होने से इन्हें भी 'ऋतो भारद्वाजस्य' सूत्र से इट् का निषेध प्राप्त था, पर वह केवल थल् में था, वस् मस् में नहीं। इस प्रकार 'कृ सृ भृ वृ' इन चार धातुओं को छोड़कर शेष ऋदन्त धातुओं से परे थल् को छोड़कर अन्य वलादि लिट् प्रत्यय परे रहते इडागम हो जाए।

इस विवेचन से यह विदित होता है कि जहाँ रात्सस्य' सूत्र ने 'संयोगान्तस्य लोपः' के कार्यक्षेत्र का संकोच किया वहीं 'कृसृभृवृस्तु.' सूत्र ने इट् विधि के कार्यक्षेत्र का विस्तार किया है। क्योंकि 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' सूख से जहाँ सर्वथा इट् निषेध प्राप्त था वहाँ लिट् लकार में 'कृ सृ भृ वृ.' इन चार धातुओं को छोड़कर अन्य सभी ऋकारान्त धातुओं को इट् की प्राप्ति हुई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस नियम से अर्थ का संकोच नहीं अपितु विस्तार हुआ है।

किन्तु एक अन्य दृष्टि से विचार करें तो हम पायेंगे कि क्रादि-नियम 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' सूत्र के क्षेत्र को संकुचित भी करता है। 'एकाच उपदेशे.' सूत्र का मुख्य कार्य निषेध करना है। जिन धातुओं से यह सूत्र निषेध करता है, उन धातुओं के क्षेत्र को लिट् के प्रसंग में संकुचित करना ही क्रादि-नियम का प्रयोजन है। इस प्रकार यह नियम अनिट् धातुओं के क्षेत्र को सीमित करने का कार्य करता है। अतः इसे संकोच-परक माना जाए या विस्तारपरक; यह हमारे दृष्टिकोण पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है।

नियमशास्त्रों (सूत्रों) की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है : विधिमुखेन या निषेधमुखेन। जैसे - 'कृत्तद्धितसमासाश्च'[६] इस सूत्र में 'समास' का ग्रहण नियमन करता है कि जिन समुदाय में पूर्वभाग पद हो और उसकी अगर प्रातिपदिक संज्ञा हो तो समास में ही हो। इससे यह प्रतिपाद्य फलित होता है कि समास प्रातिपदिक है ओर समास से इतर तथा समास से सजातीय प्रातिपदिक नहीं। इस स्थल पर विधेयात्मक प्रवृत्ति का औचित्य इसलिए दृष्टिगत नहीं होता क्योंकि प्रातिपदिकत्वरूप विधि पूर्वसूत्र 'अर्थवदध ातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'[७] से ही सिद्ध है। इस प्रकार सूत्र की प्रवृत्ति निषेधात्मक अर्थात् दूसरे सूत्र से प्राप्त समास से इतर एवं समास-सजातीय को प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध ही उचित है। इस पक्ष में अर्थात् समास-ग्रहण को निषेधात्मक मानने पर समास ग्रहण 'न तिसृचतसृ.'[८] इत्यादि निषेधात्मक सूत्रों की तरह निषेधक ही सिद्ध होता है न कि विधायक। ''विधिमुखेन प्रवृत्ति या निषेधमुखेन प्रवृत्ति'', शब्दावली में विधि का अर्थ है 'भाव' और निषेध का अर्थ है 'अभाव'। मुख शब्द का तात्पर्य प्रधान अर्थ को व्यक्त करना है। 'प्रवृत्ति' का तात्पर्य है लक्ष्य में विधेय का सम्बन्ध। इस प्रकार विधिमुखेन प्रवृत्ति का फलित अर्थ है- भावगत जो प्राधान्य है अर्थात् विधेय के रूप में जिसका तात्पर्य विषयत्व विवक्षित है उसके विशिष्ट विधेय का लक्ष्य में सम्बन्ध।

अब अगर समास-ग्रहण की निषेधमुखेन प्रवृत्ति मानें तो उस पक्ष में समास की प्रातिपादिक संज्ञा हो, इस यथाश्रुत अर्थ का परित्याग करते हुए समास से इतर तथा समास-सजातीय की प्रातिपदिक संज्ञा न हो, ऐसा अर्थ स्वीकार करना पड़ता है। यही कारण है कि नियमसूत्रों की निषेधमुखेन प्रवृत्ति में विद्वानों ने तीन दोष माने हैं- (क) स्वार्थहानि (ख) परार्थकल्पना तथा (ग) प्राप्तबाध। उदाहरणार्थ-इसी समासग्रहणस्थल में निषेधात्मक प्रवृत्ति मानने पर समासपद

समासरूपी अपने वास्तविक अर्थ को छोड़ देता है; इसलिए स्वार्थ-हानि हुई। दूसरा समास से इतर तथा समास-सजातीयरूपी अन्य अर्थ का ग्रहण करना पड़ता है, इसलिए परार्थकल्पना हुई। एवं तीसरा समास से इतर एवं समास सजातीय को अन्य सूत्र से प्राप्त प्रातिपदिक संज्ञा का बाध करना पड़ता है, इसलिए प्राप्तबाध दोष भी उपस्थित होता है। इस प्रकार निषेधात्मक अर्थात् निषेधमुखेन प्रवृत्ति के पक्ष में तीन गौरवों को देखते हुए वैयाकरणों में सामान्य मान्यता है- 'विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान्' अर्थात् विधेयात्मक नियम सम्भव रहने पर निषेधात्मक की अपेक्षा विधेयात्मक प्रवृत्ति ही श्रेष्ठ है।

भट्टोजिदीक्षित के अनुसार नियमशास्त्रों की प्रवृत्ति विधिमुखेन या निषेधमुखेन होनी चाहिए; अर्थात् दोनों पक्षों में से किसी एक का भी आश्रयण किसी नियमशास्त्रीय स्थल पर किया जा सकता है। जैसे- उपर्युक्त समास-ग्रहण-स्थल वाले नियम पर चर्चा के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि 'समासः प्रातिपदिकम्'। इसका तात्पर्य समास की प्रातिपदिक संज्ञा हो अथवा समासभिन्न समास-सजातीय की प्रातिपदिक संज्ञा न हो। इन दोनों पक्षों में से कोई सा भी पक्ष लिया जा सकता है। भट्टोजिदीक्षित के इस एकतरपक्षीय मत का रहस्य यह है कि नियमसूत्र की प्रवृत्ति चाहे विधेयात्मक हो या निषेधात्मक, उससे फलतः किसी भी पक्ष में अर्थविभेद नहीं होता। यदि विधेय पक्ष रखते है तो एवकार के द्वारा समासेतर की स्वतः व्यावृत्ति हो जाती है और यदि निषेधात्मक पक्ष रखते है तो समासभिन्न समास-सजातीय की प्रातिपदिक संज्ञा न हो, इस प्रकार अर्थ होता है, तथा समास की प्रातिपदिक संज्ञा हो, यह विधेयांश स्वतः आक्षिप्त होता है। इस प्रकार विधेयपक्ष में निषेधांश तथा निषेधपक्ष में विधेयांश का आक्षिप्त होना स्वभावसिद्ध है, ऐसा भट्टोजिदीक्षित के वक्तव्य का सारांश फलित होता है। नागेशभट्ट ने सभी नियमशास्त्रों की प्रवृत्ति विधिमुखेन ही मानी है।

इन दोनों मतों के अलावा एक तीसरा मत भी आधुनिक आचार्यों के मध्य प्रचलित है। उस मत के अनुसार सामान्यतः नियमसूत्र की विधिमुखेन ही प्रवृत्ति माननी चाहिए; परन्तु उसके सम्भव न होने पर निषेधमुखेन प्रवृत्ति भी मानी जा सकती है।

नियम तथा अपवाद में अन्तर

जब हम नियमसूत्र और अपवादसूत्र को सामान्य दृष्टि से देखते हैं तो इनमें कोई विशेष अन्तर दिखलाई नहीं पड़ता। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों प्रकार के सूत्रों का कार्य सामान्य-सूत्र के उद्देश्यविषय को संकुचित करना है। जैसे- 'कर्मण्यण्'[९] इस उत्सर्ग-सामान्यसूत्र के कार्यक्षेत्र को 'आतोऽनुपसर्गे कः'[१०] इस अपवादसूत्र ने संकुचित कर दिया। इसी प्रकार 'संयोगान्तस्य लोपः'[११] के कार्यक्षेत्र को 'रात्सस्य'[१२] इस नियमसूत्र ने संकुचित कर दिया।

परन्तु यदि सूक्ष्मता से परीक्षण करें तो इनमें वस्तुतः महत्त्वपूर्ण अन्तर है। अपवाद-सूत्र उत्सर्ग-सूत्र के कार्य को बाधकर अपने उद्देश्यता-विषय में प्रवेश नहीं पाने देता जबकि नियमसूत्र सामान्यसूत्र के उद्देश्यता-विषय को संकुचित करता है, उसका सर्वथा निषेध नहीं करता। इस अन्तर को निम्न उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है- 'इको यणचि'[१३] यह उत्सर्ग सूत्र या सामान्य सूत्र है। इसका कार्य अच् परे रहते इक् (इ उ ऋ ऌ) को यण् (य् व् र् ल्) आदेश करना है। अपवाद-सूत्र 'अकः सवर्णे दीर्घः'[१४] का कार्य अक् से उत्तर सवर्ण अच् परे रहते दीर्घ करना है। जैसे- 'गच्छामि+अहम्' यहाँ

‘इको यणचि’ से यणादेश होकर ‘गच्छाम्यहम्’ हो जाएगा; क्योंकि ‘गच्छामि’ के ‘इ’ के बाद ‘अहम्’ का ‘अ’ परे है। परन्तु यदि ‘गच्छामि इति’ ऐसी स्थिति हो तो यद्यपि यहाँ पर भी ‘इको यणचि’ की प्रवृत्ति के सभी निमित्त विद्यमान है, अर्थात् ‘इ’ के परे ‘अच्’ ‘इ’ है, परन्तु यणादेश नहीं होता अपितु अपवादसूत्र होने के कारण ‘अकः सवर्णे दीर्घः’ से दीर्घ ही होगा। इससे यह ज्ञात हुआ कि अपवाद-सूत्र कभी भी उत्सर्गसूत्र को अपने उद्देश्यता-विषय में प्रवेश नहीं करने देता।

इसके विपरीत नियमसूत्र उत्सर्ग या सामान्यसूत्र का सर्वथा निषेध नहीं करता। जैसे- कीः, ऊर्क्, इन दोनों उदहारणों से नियमसूत्र के कार्य को समझा जा सकता है। ‘संयोगान्तस्य लोपः’ सूत्र का कार्य संयोगान्त जो वर्ण होगा उसका लोप करना है, चाहे ‘कीर्स्’ के ‘स्’ का लोप हो या ‘ऊर्क्’ के ककार का लोप। इससे दोनों स्थलों पर संयोगान्त का लोप प्राप्त है। परन्तु ‘रात्सस्य’ सूत्र नियम करता है कि रेफ से उत्तर सकार का ही लोप हो अन्य का नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि रेफ से उत्तर सकार का लोप ‘संयोगान्तस्य लोपः’ से प्राप्त नहीं है। उससे तो प्राप्त है ही, उसका बाध यह सूत्र नहीं करता अपितु इसका तात्पर्य है कि जहाँ रेफ से उत्तर संयोगान्त का लोप प्राप्त हो तो सकार का ही लोप हो। इससे ‘कीर् स्’ के सकार का तो लोप हो गया परन्तु ‘ऊर्क्’ के ककार का संयोगान्त होने पर भी लोप नहीं हुआ।

इस विवेचन से यह विदित होता है कि नियमसूत्र अपवादसूत्र की तरह उत्सर्ग का सर्वथा बाध नहीं करता।

परिभाषासूत्र एवं नियमसूत्र का अन्तर

विधिसूत्र की प्रवृत्ति में आने वाली अव्यवस्था को दूर करने में सहायक होने के कारण परिभाषा को भी सामान्यतः ‘नियम’[१५] नाम दे दिया जाता है। अतः इन दोनों का सूक्ष्म भेद जान लेना यहाँ प्रासङ्गिक होगा।

परिभाषासूत्र कोई स्वतंत्र विधि नहीं करता। वह तो वस्तुतः विधिसूत्र का अंग होता है। उसके द्वारा विधिसूत्र को समर्पित ‘पद’ या ‘अर्थ’ उसे अभीष्ट लक्ष्य में प्रवृत्त करता है अनभीष्ट से रोक देता है। उसका नियमत्व इतना ही है कि वह न हो तो अनिष्ट स्थल में ‘विधि’ की प्रवृत्ति हो जाये।[१६]

इसके विपरीत नियमसूत्र सामान्यविधि के विषयक्षेत्र के उद्देश्य में अनावश्यक विधि के रूप में प्रसक्त होता है। अर्थात् जो कार्य सामान्यविधि द्वारा सहज हो सकता है उसे सम्पन्न करने को शास्त्रकार का यह अतिरिक्त प्रयत्न होता है। ऐसा विध्यंश में निष्प्रयोजन होने से सूचित करता है कि शास्त्रकार सामान्यविधि के कार्यक्षेत्र को सीमित करना चाहता है। अत एव नियमसूत्र को संकोचक सूत्र कहा जाता है।[१७] नियमसूत्र द्वारा किये जाने वाले संकोच का यह अर्थ नहीं होता कि सामान्य या विधि के कार्य क्षेत्र को सीमित करता है। ऐसा मानने से तो सामान्यविधि की सर्वथा निरर्थकता हो जाएगी और स्पष्टतः एक उद्देश्य के लिए दो-दो सूत्रों की रचना उपहासास्पद लगेगी। अतः नियमसूत्र सामान्यसूत्र को संकुचित करता है। मीमांसाशास्त्र में ऐसे नियम को ‘परिसंख्याविधि’ कहते हैं।

संक्षेप में कहें तो नियमसूत्र अपनी प्रवृत्ति के संदर्भ में सामान्यविधि को वहीं केन्द्रित कर लेता है, अन्य-प्रवृत्ति के सन्दर्भ में वह काम करता है तो करे। ‘संयोगान्तस्य लोपः’ सूत्र सामान्यतः पद के संयोगान्त का लोप करता है। इसी सन्दर्भ में पाणिनि ‘रात्सस्य’ से रेफ से परे

'स्' के संयोगान्त का विधान करता हैं। यह एक अतिरिक्त और व्यर्थ प्रयत्न सूचित करता है कि 'संयोगान्त' के लोप के अन्तर्गत रेफ से परे जो भी 'लोप' सम्भव है उसमें केवल 'स्' का लोप हो, अन्य का नहीं। फलतः रेफ से परे अन्य हल् का संयोगान्त लोप नहीं होता। जैसे 'ऊर्क्' में 'क्' का लोप नहीं होता। अन्य संयोगान्त लोपों को यह सूत्र नहीं रोकता।

परिभाषासूत्र नियमसूत्र की तरह विधि सूत्र के कार्य को सीमित नहीं करता अपितु वह विधिसूत्र के द्वारा प्राप्त अव्यवस्था को दूर करते हुए उसके क्षेत्र को व्यवस्थित करता है, नियमित करता है। जैसे- 'इको गुणवृद्धि' यह परिभाषासूत्र है तथा 'सार्वधातुकार्ध्दधातुकयोः' इस विधिसूत्र का अर्थ है- 'सार्वधातुक तथा आर्ध्दधातुक प्रत्यय के परे रहते अङ्ग को गुण हो।' यहाँ यह सन्देह होता है कि 'गुण' किसको हो? सभी अचों को गुण की प्राप्ति सम्भव है। जैसे- 'यानम्'। 'या+अन' यहाँ 'अनम्' आर्धधातुक परे रहते 'या' के 'आ' को 'अ' गुण सम्भव है। तब परिभाषा सूत्र 'इको गुणवृद्धी' यहाँ विधिसूत्र की सहायता करता है कि जहाँ गुण-वृद्धि प्राप्त हो वह 'इक्' के स्थान पर ही हो। इससे अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति तथा अनिष्ट की निवृत्ति हो गई। यदि परिभाषासूत्र न होता तो अनिष्ट लक्ष्य में विधि की प्रवृत्ति हो जाती।

११९, गौतम नगर
नई दिल्ली-४९

संदर्भः-

१. ल.श. शेखर, शेखरदीपकटीका, पृ.४
२. अष्टा. ८.२.२३
३. अष्टा. ८.२.२४
४. अष्टा. ८.२.२३
५. अष्टा. ७.२.१३
६. अष्टा. १.२.४६
७. अष्टा. १.२.४५
८. अष्टा. ६.४.४
९. अष्टा. ३.२.१
û०. अष्टा. ३.२.३
११. अष्टा. ८.२.२३
१२. अष्टा. ८.२.२४
१३. अष्टा. ६.१.७७
१४. अष्टा. ६.१
१५. परिभाषेयं स्थानिनियमार्था। अनियमप्रसङ्गे नियमो विधीयते। का. १.१.३
१६. परिभाषाणां नियमत्वं तु यदि परिभाषा सूत्रं न स्यात्तदा व्यवहितादपि प्रवृत्तिः स्यादित्येतावतेति दिक्। विशनलाल गौड, १९८५, पृ. २११
१७. प्रौढ़ मनोरमा, पृ. १६८, 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (अष्टा. १.१.६२) पर सभापतिशर्मोपाध्याय की टिप्पणी, 'नियमस्थले व्यर्थीभूतशास्त्रीयोद्देश्य- तावच्छेदकव्यापकम्, व्यर्थताप्रयोजक- शास्त्रीयोद्देश्य- तावच्छेदकव्याप्यं यद्रूपं तदरूपावच्छिन्नातिरक्तत्वेनव्यर्थताप्रयोजक- शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेकावच्छिन्ने सङ्कोचो जायते'। उद्धृत, विशनलाल गौड, १९८५, पृ. २१२

गीता में प्रतिपादित दैवी एवं आसुरी सृष्टि

-डॉ. वेदव्रत

सकल चराचर जगत् सतत परिवर्त्तनशील एवं गतिशील है। संसार के समस्त प्राणी प्रतिपल क्रियाशील रहते हैं। कोई भी प्राणी संसार में कर्महीन होकर नहीं रह सकता है, प्राकृतिक गुण भूख-प्यास आदि के कारण वह किसी न किसी कर्म में मनसा-वाचा-कर्मणा प्रवृत्त ही रहता है[१]।

पञ्चमहाभूतों से निर्मित इस चराचर जगत् में दैव एवं आसुर भेद से दो प्रकार के भूत दृष्टिगोचर होते हैं।[२] प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों से एक सृष्टि की रचना करता है। यह सृष्टि दैवी एवं आसुरी भेद से दो प्रकार की होती है। आचार्य भर्तृहरि ने नीतिशतकम् में चार प्रकार के प्राणियों की चर्चा की है। संसार में एक प्रकार के प्राणी वो हैं जो अपने स्वार्थ का परित्याग करके नि:स्वार्थभाव से कष्ट सहकर परिश्रम करते हुए परार्थ में संलग्न रहते हैं। दूसरे प्रकार के मनुष्य वो हैं जिनके निज स्वार्थ की यदि हानि न हो तो वे परोपकार करते हैं। तीसरे प्रकार के प्राणी दूसरों का अहित करके अपना लाभ करते हैं। चौथे प्रकार के मनुष्य वो हैं जो बिना किसी प्रयोजन के दूसरों का अहित करते हैं।[३]

उपरोक्त चार प्रकार के प्राणियों में प्रथम कोटि के प्राणियों द्वारा की जाने वाली सृष्टि दैवी तथा अन्य प्राणियों द्वारा की जाने वाली सृष्टि आसुरी सृष्टि कहलाती है। सामान्यत: हम यह कह सकते हैं कि दैवी भावना से प्रेरित होकर किये जाने वाले कर्म दैवीसृष्टि के जनक होते हैं तथा आसुरी भावना प्रेरित होकर किये जाने वाले कर्म आसुरी सृष्टि के।

साहस, अन्त:करण की शुचिता, ज्ञान, योग में चित्त लगाना, दान करना, संयम, यजनशील होना, स्वाध्याय, द्वन्द्व सहिष्णुता, सरलता, सत्यता, अहिंसा, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, प्राणिमात्र पर दयाभाव, लोलुप न होना, मृदुता, लज्जा, मन की स्थिरता, तेज, क्षमाशीलता, धीरता, शुचिता अद्रोह और अतिमान न करना आदि गुण दैवी सम्पद् वाले व्यक्ति में पाये जाते हैं।[४] दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध , कठोरता तथा अज्ञान आसुरी सम्पद् वाले व्यक्ति में पाये जाते हैं।[५]

मानव जीवन का प्रयोजन धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति तथा परम प्रयोजन मोक्ष अथवा परमपद की प्राप्ति है। मानवजीवन साधन है साध्य नहीं। साध्य तो मोक्ष ही है। किन्तु कुछ लोग साधन एवं साध्य को समझने में भूल कर जाते हैं। मोक्ष की प्राप्ति अथवा भवसागर से विमुक्ति के अनेक उपाय शास्त्रों में वर्णित हैं। परन्तु यथार्थ में यदि देखा जाये तो मनुष्य द्वारा किये जाने वाले कर्म ही उसके बन्ध न एवं मुक्ति के हेतु हैं। विधिवत् चिन्तन-मनन करके लोककल्याण की भावना को ध्यान में रखकर अनासक्त भाव से किये जाने वाले कर्म ही मानव को मुक्ति की ओर ले जाते हैं। किन्तु इस सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि पागलखाने में पागल लोग जो कुछ करते हैं बिल्कुल निष्काम-निर्लेप-अनासक्त भाव से करते हैं परन्तु वह निष्काम कर्म नहीं कहा जा सकता। कर्मफल में आसक्ति को छोड़कर जो व्यक्ति कार्य में प्रवृत्त होता है, वह कार्य में प्रवृत्त होता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता।[६] निष्काम शब्द के अर्थ को प्रतिपादित करते हुए स्वामी समर्पणानन्द जी गीता में लिखते हैं-

''मान लीजिए मैं एक चिकित्सक हूँ। मैं जो औषध दे रहा हूँ, वह रोग-निवारण में सफल है या नहीं, यह विचार न करना तो कोरा पागलपन है। हाँ रोग-निवृत्ति पर वह रोगी चिकित्सक को क्या फल देता है, इस फल प्राप्ति में आसक्ति का निषेध किया गया है।[७]'' इसे हम अन्य उदाहरण से भी समझ

सकते हैं, यथा आचार्य शिष्य को विद्यादान देता है। विद्यादान देते समय आचार्य यह तो कामना करे कि इस विद्या से मेरा शिष्य शिष्ट एवं शिक्षित हो जाये किन्तु शिक्षित होकर वह मुझे कुछ फल दे इसकी कामना न करे। इसे हम संक्षेप में इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि व्यक्ति कर्म के फल की तो इच्छा करे किन्तु कर्मफल के फल के प्रति अनासक्त रहे।

कर्म का वास्तविक अर्थ समझने में विज्ञ-जन भी भूल कर जाते हैं[८]। मनुष्य को कर्म का भी ज्ञान प्राप्त करना है। जैसे क्षत्रिय का धर्म है- आततायी को मारना, यह कर्म का ज्ञान है। विकर्म को भी जानना है, जैसे कोई पागल आततायी हो जाए तो उसको बाँधना तथा चिकित्सा करनी, किन्तु प्राण दण्ड नहीं देना, किन्तु यदि भूल से उसे प्राण दण्ड दे दिया तो यह विकर्म हुआ। इस विकर्म अर्थात् विपरीत कर्म का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि कोई आलस्यवश अकर्मण्य होकर पड़ा है तो यह अनुचित अकर्मण्यता है किन्तु यदि कोई मनुष्य क्षमा करने से सुधर सकता है तो उसे दण्ड न देना शुभ अकर्मण्यता हे। इसका ज्ञान अकर्म का ज्ञान हे। कर्म, अकर्म तथा विकर्म इन तीनों का यथार्थ ज्ञान होने से कल्याण होता है। इस कर्म की गति का ठीक ज्ञान होना बड़ा कठिन है।[९] कर्म और अकर्म को और अधिक स्पष्ट करते हुए स्वामी जी अगले श्लोक की व्याख्या में लिखते हैं- हर शुभ कर्म किसी अवस्था विशेष में अशुभ कर्म हो जाता है। उदाहरणार्थ कोई सिपाही राष्ट्र के किसी दुर्ग की अथवा नाके की रक्षार्थ पहरा दे रहा है तो उस समय सन्ध्योपासन की वेला प्राप्त होने पर सिपाही का सन्ध्योपासन में लीन हो जाना घोर अशुभ है सो इस कर्म में कब अकर्मता आ गई, यह जो जानता है तथा अकर्म में कर्म को जानता है जैसे शत्रु अपनी रक्षा के लिए गोवें आगे करके राष्ट्र का नाश करने आवे तो उस समय गोहत्या रूप अशुभ कर्म में कर्त्तव्य अर्थात् शुभ-कर्मत्व आ जाता है जैसे अर्जुन के लिए अन्याय का पक्ष लेकर सामने आये गुरु तथा पितामह का वध अकर्म में कर्म हुआ, जो इस तत्त्व को देख ले, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् मनुष्य है। उसे ही युक्तियुक्त मनुष्य समझना और वह पूर्ण कार्य करता है।[१०] इस कर्म-रहस्य से अनभिज्ञ ज्ञानाभिमानी मनुष्य कर्म को परमपद की प्राप्ति (मुक्ति में) बाध क समझ लेते हैं और अपने वर्णाश्रमोचित आवश्यक कर्मों का त्याग कर देते हैं। इस प्रकार के अनर्थ से बचने का एकमात्र उपाय कर्म और ज्ञान के रहस्य को समझकर उनका यथायोग्य अनुष्ठान करना ही है। जो मनुष्य इन दोनों तत्त्वों को भलीभाँति समझ लेता है, वह अपने वर्णाश्रम और परिस्थिति के अनुरूप शास्त्रविहित कर्मों का स्वरूपतः त्याग नहीं करता, बल्कि उनमें कर्त्तापन के अभिमान तथा राग द्वेष और फलकामना से रहित होकर उनका यथायोग्य आचरण करता है और मुक्त हो जाता है।[११]

मनुष्य को जीवन निर्वाह कैसे करना चाहिए, इस विषय को योगवासिष्ठ में बहुत ही सुन्दर शब्दों में इस प्रकार निरुपित किया गया है- शरीर है, इसलिए उसके निर्वाहार्थ धर्मपूर्वक उचित साधनों से धन को कमाना चाहिए। शरीर को रखने के लिए आवश्यक आहार-विहार करना चाहिए। आहार-विहार के लिए जीवन नहीं है अपितु जीवन के लिए आहार-विहार हैं। तत्त्व की जिज्ञासा अथवा परमपद की प्राप्ति के लिए जीवन धारण करना चाहिए भगवत्प्राप्ति इसी जीवन में कर लेनी चाहिए, जिससे पुनः गर्भावास का दुःख न भोगना पड़े।[१२] उपनिषत्कार भी इस विषय में यही कहते हैं कि यदि इस जीवन में आत्मतत्त्व को जान लिया तो ठीक है परन्तु यदि नहीं जाना तो बहुत हानि है।[१३] गीता कहती है कि कर्म के द्वारा ही मनुष्य सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त

शेष भाग पृष्ट-५० पर.......

ऋषि दयान्द सरस्वती की वेदविषयक रचनाओं का अनुशीलन

-प्रमा शास्त्री

भरतीय इतिहास में १९वीं शताब्दी को पुनर्जागरण का काल कहते हैं। इस काल के महापुरुषों में स्वामी दयान्नद सरस्वती का स्थान महत्तपूर्ण है। स्वामी जी ने 'आर्य समाज' की स्थपना करके धर्म, समाज, संस्कृति तथा राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में नवचेतना का संचार किया।

स्वामी दयान्नद की मातृभाषा गुजराती थी, संस्कृत का उन्होंने विशेष अध्ययन किया था।१८४६ इ०में उन्होंने गृहत्याग कर दिया था, तब उनकी अवस्था २२ वें वर्ष की थी।१८६० ई०में वे वेद और आर्ष ग्रन्थों, विशेषत: अष्टाध्यायी- महाभाष्य- निरुक्तादि ग्रन्थों के अध्ययन के लिए ८१ वर्षीय प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजान्नद दण्डी के चाणों में मथुरा पहुँचं। वहाँ लगभग २-१/२ वर्ष। (ढाई वर्ष) अध्ययन करके १८६३ ई०में कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए। स्वामी दयान्नद के जीवन-चरित से यह विदित होता है कि १८४६ ई०से १८७४ इ० से पूर्व तक (२८ वर्षो तक) उनके व्यवहार की भाषा संस्कृत थी। यद्यपि इतने वर्षो में मध्य,उत्तरी तथा पूर्वी भारत में परिभ्रमण के दौरान उस काल की जनभाषाओं से उनका सामान्य परिचय हुआ होगा। बव्रभूमि मथुरा में रहते हुए बाजारू ब्रजभाषा से परिचित भी हुये होंगे।१८६३ से १८८३ ई० में निर्वाण प्राप्त करने तक २० बीस वर्ष के कार्यकाल में प्रारम्भिक१८६३ से १८७३ई० तक १० दस वर्षो में वे केवल कौपीनमात्रधारी नि:संग होकर परमहंसावस्था में ही विचरते है। इन प्रारम्भिक १० दस वर्षो में वे केवल संस्कृत भाषा में ही उपदेश देते रहे। उनकी संस्कृत अत्यन्त सरल, सरस और सुललित होती थी, और संस्कृत भाषा में ही ४-५ छोटे-छोटे ग्रन्थ उन्होंने आरम्भिक वर्षो में प्रकाशित कियं। बोल-चाल की भाषा ब्रजभाषा की कौन कहे उनकी मातृभाषा मुजराती में भी एक-दो पृष्ठ उनके लिखे हुए नहीं मिलते।

स्वामीजी को १८७३ ई० कलकत्ता में बाबू केशवचन्द्र सेन ने संस्कृत के स्थान पर हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने का परामर्श दिया। इसके साथ ही केशवचन्द्रसेन तथा पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्वामी जी नें दोनों परामर्शा को स्वीकार कर लिया। वस्त्र धारणपूर्वक'भाषा' (हिन्दी) में व्याख्यान देने का शुभारम्भ स्वामीजी ने सर्वप्रथम काशी में मई १८७४ इ०में किया। 'भाषा' में बोलने का जब स्वामीजी ने दृढ निश्चय किया तब अनेक सुधीजनों ने टोका कि " आप ऐसा न करें, परन्तु स्वामीजी नहीं माने और कहा कि जब हम किसी को कुछ समझाते हैं तो संसकृत में होने के कारण पण्डितगण साधरण लोगों को उसका उल्टा ही समझा दिया करते हैं। इसीलिए अब हम 'भाषा' में ही बोलेंगे। प्रारम्भ में सैकड़ों शब्द ही नहीं, प्रत्युत वाक्य के वाक्य संस्कृत में बोले जाते थे। क्योंकि 'भाषा' (हिन्दी)बोलने और लिखने का अभ्यास नहीं था।"[१] बाद में धीरे-धीरे स्वामीजी की हिन्दी जिसे वे 'आर्यभाषा' कहते थे, अत्यन्त ही परिमार्जित, परिशुद्ध, प्रवाहमयी और मुहवरेदार हो गई। हिन्दी में लिखा हुआ उनका पहला महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' १८७४ई० में छपा। इस शोधलेख में स्वामी दयान्नद की वेदविषयक रचनाओं की विवेचना की जाएगी स्वामीजी का व्यावहारिक तथा शास्त्रीय विषयों पर सस्कृत और हिन्दी में लिखे गये ग्रन्थों की संख्या ३५ पैंतीस है। शास्त्रीय विषयों पर स्वामी दयानन्द लिखित ग्रन्थों को हम मोटे तौर पर ५ पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं-

(१) वेदभाष्य और वेद विषयक

(२) धर्मशास्त्र विषयक

(३) दर्शनशास्त्र विषयक

(४) कर्मकाण्ड अथवा कल्पशास्त्र विषयक

वेदभाष्य और वेदविषयक

(i)ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-

प्राचीन ऋषियों द्वारा सम्मत जिन मूलभूत सिद्धान्तों को आधार बनाकर स्वामीजी ने जिस वेदभाष्य का उपक्रम किया, उन सभी सिद्धान्तों को इस पुस्तक में विस्तार से लिखा गया है। स्वामी की वेदविषयक सभी स्थापनाएँ इस ग्रन्थ में समाविष्ट हो गई है। वेदोत्पत्ति, वेद-संज्ञा जैसे विषयों की विवेचना के पश्चात् वेद में ब्रह्मविद्या, सृष्टि विद्या,उपासना विद्या, पृथिव्यादिलोकभ्रमण, आकर्षणानुकर्षण, प्रकाश्याप्रकाश्य, गणित, नौविमान, तारविद्या, वैद्यकशास्त्र आदि विषयों पर भी स्वामीजी ने वेदमन्त्रों के आधर पर अपनी ऊहा और शास्त्रीय पाण्डित्य से अच्छी विवेचना की है। वेदभाष्य में उपयोगी व्याकरण नियम, स्वर व्यवस्था, वैदिक अलंकार तथा ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य जैसे कठिन विषय भी इस ग्रन्थ में विवेचित हुए हैं। निश्चित रूप से इन उपयोगी विषयों की और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की चर्चा प्राचीन सायण-महीधरादि के भाष्यभूमिका तथा वेदभाष्यों में नहीं मिलती। इस ग्रन्थ की संस्कृत लेखन अत्यन्त सरल, प्रसादगुणोपेत तथा प्रसन्न गम्भीर शैली युक्त है, जो स्वामीजी के संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में हैं। भाषानुवाद कहीं-कहीं मूल से अधिक और कहीं-कहीं अत्यन्त संक्षिप्त भी है।। इस ग्रन्थ का गुजराती, मराठी, उडिया, बंगला, तेलुगू, मलयालम, कन्नड, अंग्रेजी तथा उर्दू आदि भाषाओं में भी अनुवाद हो चुका है।[२] ऋषि दयानन्द के वेदभष्य पहले-पहल अकों के रूप में छपते थे अत: वेदभाष्य की 'भूमिका' नामक यह ग्रन्थ कुल१६ अंकों में संवत् १९३४-३५ में प्रकाशित हुआ। १ से लेकर १४ अंक लाजरस प्रेस काशी से तथा १५ और १६वाँ अंक निर्णय सागर मुम्बई से मुद्रित हुआ[३] प्रो० मैक्समूलर ने स्वामी दयानन्दजी सरस्वती की इस महत्वपूर्ण कृति के विषय में लिखा है-

''ऋग्वेदकाल से आरम्भ करके दयानन्द द्वारा सम्पादित ऋग्वेदभाष्य की भूमिका लिखे जाने के समय तक के साहित्य को दो भागों में बाँट सकते हैं। यहाँ। यह भी बता देना समुचित ही होगा कि दयानन्द द्वारा लिखी गई ऋग्वेद की भूमिका भी कम रुचिपूर्ण नहीं है।''[४]

(ii)वेदभाष्य का नमूना (संवत् १९३१)

स्वामीजी ने अपने करिष्यमाण वेदभाष्य का स्वरूप जनता पर प्रकट करने के लिए ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का भाष्य था। भाष्य संस्कृत में था तथा इसका गुजराती और मराठी अनुवाद भी था। प्रथम सूक्त में '**अग्निमीळे पुरोहितम्०**'आदि ९ नौ मन्त्र हैं। प्रत्येक मन्त्र के दो अर्थ थे एक भौतिक दूसरा पारमार्थिक। उसकी भूमिका में लिखा था कि '**मैं सारे वेदों का इसी शैली पर भाष्य करूँगा।।** यदि किसी को इस पर कोई आपत्ति हो तो पहले ही सूचित कर दें ताकि मैं उसका खण्डन करके ही भाष्य करूँ।' यह नमूना स्वामीजी ने काशी के पण्डित बालशास्त्री स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती प्रभृति तथा कलकत्ता और अन्य स्थानों के पण्डितों के पास भेजा था, परन्तु किसी ने भी उसको आलोचना नहीं की।[५] नमूने का यह अंक अब उपलब्ध नहीं होता। ऋषि दयानन्द के पत्रों के अन्वेषक तथा संग्रहकर्ता श्री मामराजजी के संग्रह में यह ट्रक्ट था तथा इसका मूल्य एक आना था। इसका मुद्रण संवत् १९३१ में कार्तिक के मध्य तक हो गया था।[६]

(iii)चतुर्वेद-विषय-सूची (संवत्१९३३)

ऋषि दयानन्द ने वेदभाष्य रचने से पूर्व चारों वेदों का गहन आलोडन करके वेदों के प्रतिपाद्य विषयों की सूची तैयार की थी। यह सूची प्रत्येक वर्ग, दशति, सूक्त वा अध्यायस्थ मन्त्रों के विषयें का क्रमश: संकलन के रूप में थी। निष्कर्षत: करिष्यमाण चारों वेदों के भाष्य का यह प्रारूप है, यद्यपि ऋषि नें वेदों का भाष्य करते समय इस प्रारूप में यत्र-यत्र परिवर्तन भी

कर दिया है, तथापि इसकी उपयोगिता अक्षुण्ण है। विशेषत: सामवेद, अथर्ववेद तथा ऋग्वेद के वे अंश जहाँ स्वामीजी का भाष्य नहीं मिलता, के तात्पर्य-ज्ञान में यह सूची अत्युपयोगी है। पर्याप्त काल तक यह प्रकाश में नहीं आ पाई।पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं० युधिष्ठिर मीमांसक तथा आचार्य विश्वश्रवा: जी बहुप्रयास के अनन्तर २०२८ वि० संवत् में परोपकारिणी सभा ने इसे प्रकाशित किया। पाठ-शुद्धता की दृष्टि से इस पुस्तक का पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित पाठ(दयानन्दीय-लघु ग्रन्थ संग्रह के अन्तर्गत आर्य समाज शताब्दी संस्करण (१९७४ ई०) समीचीन है। मीमांसकजी का यह निष्कर्ष है कि ऋषि ने इस सूची का संकलन आर्याभिनविनय, सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि के प्रथम संस्करणों के लिखने से पूर्व कर लिया था।[७]

(iv)वेदभाष्य का दूसरा नमूना (संवत् १९३३)

स्वामीजी ने वेदभाष्य के दूसरे नमूने का यह अंक संवत् १९३३ के पौष मास में काशी के लाजरस प्रेस से छपवाया। २०%२६ अठपेजी आकार के २४ पृष्ठों का यह अंक था। इसमें ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त और द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र का संस्कृत भाष्य छपा है।प्रत्सेक मन्त्र के भौतिक और पारमार्थिक दो-दो प्रकार के अर्थ दर्शाये हैं। वेद में अग्नि शब्द ईश्वर का वाचक है, इसकी पुष्टि में वेद से लेकर मैत्रायणी उपनिषद् तक अनेक आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत किये गये हैं, जो देखते ही बनते हैं।प्रमाण अपने आप में, इतने प्रबल हैं कि यदि प्रतिपक्षी हठधर्मिता वा पक्षपात को छोडकर विचार करे तो उसे मानना पड़ेगा कि वेद में 'अग्नि' शब्द का अर्थ ईश्वर भी है।[८]

(V)भ्रान्तिनिवारण (संवत् १९३४, कार्तिक शु० २ में लिखित)

स्वामीजी के 'वेदभाष्य के नमूने का अंक' सम्मति प्राप्त करने के लिए विद्वानों को भेजे गये थे। अनार्ष ग्रन्थों के अध्ययनाध्यापन की परम्परा और योरोपीय विद्वानों के प्रभाव के कारण प० महेशचन्द्र न्याय रत्न(स्थानापन्न प्राचार्य संस्कृत कॉलेज कलकत्ता) ने इस पर जो पुस्तक लिखी, वह स्वामीजी के विरुद्ध थी। इस पुस्तक में ही न्यायरत्नजी के समानधर्मा मि० ग्रिफिथ, सी० एच० टानी, पं० गुरुप्रसाद, पं० हृषीकेश, पं० भगवानदीन, पं० गोविन्दराम तथा पं० शिवनारायण अग्निहोत्री आदि विद्वानों के आक्षेपों का समाहार हो जाता है। इसलिए ऋषि दयानन्द ने इसके खण्डन में सं० १९३४ में 'भ्रान्तिनिवारण' पुस्तक लिखी। यह पुस्तक लघुकाय होते हुए भी स्वामी जी की वेद व्याख्या की आर्ष पद्धति के महत्व को रेखङ्कित करती है तथा वेदार्थ-जिज्ञासुओं के लिए इसकी उपयोगिता निस्सन्दिग्ध है।' भ्रान्ति निवारण' पुस्तक में ही ऋषि का वह प्रसिद्धवचन है जिससे उनकी बहुश्रुतता और आर्ष- प्रतिभा परिलक्षित होती है-''क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेकर पूर्व मीमांसा पर्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभ्ग मानता हूँ।''[९] इस पर पूज्यपाद मीम्रांसकजी लिखते हैं-''व्यक्ति ने परीक्षा करके तीन हजार ग्रन्थों को प्रामाणिक रूप में चुना, उसने कितने सहस्त्र ग्रन्थों का अध्ययन किया होगा, यह अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है।''[१०]''अत: ऐसे बहुश्रुत महर्षि के किसी भी लेख को विना विशेष विचार किये अयुक्त ठहराना अत्यन्त दु:साहस की बात है। हाँ, लेखक प्रमादादि से हुई अशुद्धियों की बात दूसरी है।[११]

(vi) गोतम- अहल्या और इन्द्र-वृत्रासुर की सत्य कथा

इसका सबसे पुराना उल्लेख चैत्र सं० १९३७ में प्रकाशित 'गोकरुणानिधि' के अन्तिम पृष्ठ पर मिलता है। अत: इससे पूर्व यह अवश्य प्रकाशित हुई होगी। इस पुस्तक में ऋषि दयानन्द ने ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'गोतम- अहल्या- और 'इन्द्र- वृत्रासुर' की आलांकारिक कथा का वास्तविक स्वरूप बताया है। इसके वास्तविक स्वरूप को न समझकर पुराणों में इसका अत्यन्त बीभत्स

रूप में वर्णन किया गया है। इन दोनों कथाओं का वास्तविक स्वरूप 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य' प्रकरण में भी मिलता है।

(vii) **भ्रमोच्छेदन** (आषाढ़ १९३७ विक्रमीय:)

काशी के श्री राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने ऋषि की 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका ' पर ' निवेदन ' नाम से कुछ आक्षेप सं० १९३७ वैशाख के अन्त में या ज्येष्ठ के आदि में छपवाये थे। उन पर स्वमी विशुद्धपनन्दजी के हस्ताक्षर थे। अतएव महर्षि ने उन आक्षेपों के उत्तर में 'भ्रमोच्छेदन' नामका ग्रन्थ रचा। इसका रचना काल १९३७ वि० सं० ज्येष्ठ कृष्ण-२ गुरुवार था।

(viii)**अनुभ्रमोच्छेदन** (फाल्गुन सु० १९३७)

'भ्रमोच्छेदन' के उत्तर में राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' नें 'द्वितीय निवेदन' ने द्वितीय नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस 'द्वितीय निवेदन' के उत्तर में यह 'अनुभ्रमोच्छेन' ग्रन्थ लिखा गया।

(ix) **आर्याभिविनय**(चैत्र १९३२ वि०)

सृष्टिकर्ता सर्वनियन्ता सच्चिदान्नद स्वरूप परमेश्वर की उपासना-भक्तिऔर समर्पण अथवा ईश्वर प्रणिधान हेतु वेद की ऋचाओं में क्या कहा गया है, इसका परिज्ञान बहुत ही थोड़े लोगों को था, संसकृत के सुधी विद्वज्जन भी वेदों को केवल कर्मकाण्ड का ग्रन्थ मानते थे। स्वामी दयाननद ने ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्ड इन तीनों का मूल स्रोत वेदों को ही निरूपित किया। इसका विशद वर्णन उन्होंने 'ऋग्वेदादिभाष्यीभूमिका' और 'सत्यार्थप्रकाश' में किया है। पुनरपि वैदिक भक्ति के यथार्थ ज्ञान के लिए 'आर्याभिनय' नामक एक अपूर्व गन्थ की रचना महर्षि ने की। स्वामीजी ने इस ग्रन्थ की 'उपक्रमणिका' में लिख है-'' इस ग्रन्थ से तो केवल मनुष्यों को ईश्वर का स्वरूपज्ञान और भक्ति, धर्मनिष्ठा, व्यवहारशुद्धि इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होंगे। जिससे नास्तिक और पाखण्डमतादि अधर्म में मनुष्य न फँसे।''[१२]

इस ग्रन्थ के अन्तर और बहिर् अध्ययन से यह विदित होता है कि यह ग्रन्थ अपूर्ण है। स्वामीजी इस ग्रन्थ को छह प्रकाशों (अध्यायों) से परिपूर्ण करना चाहते थे। वर्तमान ग्रन्थ में केवल दो ही प्रकाश छपे हैं। स्वामीजी इसमें चारों वेदों, ब्राह्मण और उपनिषद् आदि के मन्त्रों की केवल प्राकृतभाषा (हिन्दी) में व्याख्या करना चाहते थे प्रस्तुत 'आर्याभिविनय:' में केवल ऋग्वेद के ५३ मन्त्र तथा यजुर्वेद के ५४ मन्त्र कुल १०८ मन्त्रों की भक्तिभावपूर्ण मनोहारी व्याख्या है। इस ग्रन्थ की रचना 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम संस्करण १९३१ संवत् के समीस्थ वर्ष १९३२ संवत् में की गई। उस समय तक स्वामीजी को हिन्दी भाषा बोलने वा लिखने का अभ्यास अच्छा नहीं था[१३], अत: इसकी भाषा अपरिमार्जित है पुनरपि वह भाषा ग्रन्थ के अनुरूप अत्यन्त ही भक्ति-भावपूर्ण है।

(x) ऋग्वेद भाष्य [प्रथम-बृहद्भाष्य, द्वितीय-लघु भाष्य]

ऋषि दयानन्द के पत्रों से यह विदित होता है कि उन्होंने ऋग्वेद के भाष्य का आरम्भ संवत् १९३३ वि० में मार्गशीर्ष मास के द्वितीय सप्ताह में किया था। किन्तु छपे हुए ऋग्वेद भाष्य के प्रारम्भ में एक श्लोक में यह लिख है कि संवत् १९३४ के मार्गशीर्ष शु० ६ मगंलवार के दिन ऋग्वेद भाष्य का आरम्भ किया। इन दोनों कालों में पूरा एक वर्ष अन्तर है। इस एक वर्ष के अन्तराल की समस्या का समाधान पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने इस प्रकार दिया है-''परोपकारिणी सभा के हसतलेख संग्रह में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ६१ सूक्त तक के भाष्य की एक हस्तलिखित प्रति विद्यमान है। इस भाष्य में प्राय: प्रतिमन्त्र व्यावहारिक और पारमार्थिक दो प्रकार का भाष्य उपलब्ध होता है। एक वर्ष में १०० श्लोक प्रमाण प्रतिदिन के हिसाब से लगभग ३६००० छत्तीस हजार श्लोकप्रमाण भाष्य लिखा गया होगा। हमने इस कॉपी को देखा है और इसके संस्कृत पाठ के विशिष्ट भाग की प्रतिलिपि हमारे पास है। उसके आधर पर हम कह सकते हैं कि १ एक वर्ष के अन्तराल में ऋग्वेद का

प्रतिमन्त्र दो-दो अर्थवाला भाष्य लिखा गया। जब सन् १९३५ में पूज्य गुरुवर [पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु] ने परोपकारिणी सभा के संग्रह में विद्यमान हस्तलेखों को व्यवस्थित किया था। उस समय इस पर '**ख**' लिखकर इसको सुरक्षित किया था। अब कुछ समय से कहा जा रहा है कि यह भाष्य उपलब्ध नहीं है। यदि वस्तुतः यह भाष्य नष्ट हो गया है, तो यह एक अपूरणीय क्षति होगी।

हमारे विचार में एक वर्ष तक निरन्तर ऋग्वेद का भाष्य लिखने के पश्चात् ऋषि दयानन्द ने सोचा होगा कि इस प्रकार भाष्य का विस्तार करने से वेदभाष्य की रचना में बहुत अधिक काल लगेगा।अतः उन्होंने उसका संक्षेप करके नया भाष्य लिखा। मुद्रित ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ में लिखित काल इस संक्षिप्त(लघु) भाष्य के लेखन को सूचित करता है।

अष्टाध्यायी, धातुपाठ, निरुक्त आदि अनेक ऐसे प्राचीन ग्रन्थ हैं, जिनके बृहत् और लघु दो-दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं। वेदभाष्यों की परम्परा में बेंकटमाधव के भी ऋग्वेद के बृहत् और लघु भाष्य उपलब्ध होते हैं।''[१४]

ऋग्वेदभाष्य में ऋषि ने मन्त्रों का विष्य, पदपाठ, पदार्थ, अन्वय, भावार्थ प्रस्तुत करते हुए भाष्य किया है। यहाँ यह विशेष्रूप से ध्यातव्य है िा संस्कृत में जो पदार्थ ऋषि ने दिया है वह मन्त्र में विद्यमान पदों के क्रमिक आधार पर ही दिया है। यह आर्ष शैली है। आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त में इसी शैली से मन्त्रार्थ किये हैं। ऋषि ने हिन्दी में जो पदार्थ दिये हैं उसका नाम उन्होंने 'पदार्थन्वयभाषा' रखा था, तथा वह लोक प्रचलित अन्वय के अनुसार दिया है, जिससे विद्वान और अविद्वान् दोनों अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार वेदार्थ का अवगाहन कर सकें। सम्पूर्ण ऋग्वेद की व्याख्या ऋषि नहीं कर सके , निधन हो जाने के कारण ७ वें सातवें मण्डल के ६१ इकसठवें सूक्त के २ दूसरे मन्त्र तक कुल ५६४९ मन्त्रों का भाष्य ऋषि कर पाये। यह भाष्य ऋषि के जीवन-काल में १ प्रथम मण्डल के ८६ वें सूक्त तक ही प्रकाशित होता रहा। यजुर्वेदभाष्य के आदि में लिखे गये '**ऋग्वेदस्य विद्याय वै....भाष्यं**' पदों को देखकर यह भ्रान्ति फैल गई कि सम्पूर्ण ऋग्वेदभाष्य करने के पश्चात् ऋषि नें यजुर्वेद भाष्य करना आरम्भ किया, किन्तु वास्तविकता यह है कि १९३४ वि० सं० में ऋग्वेदभाष्य को विधिवत् आरम्भ करके ३७ सैंतीस दिनों के पश्चात् ही महर्षि ने यजुर्वेद भाष्य करना आरम्भ कर दिया था। स्वामीजी का वेदभाष्य प्रतिमास अंक के रूप में छपता था और प्रत्येक मास प्रसिद्ध व्यक्तियों, संस्थाओं, विद्वानों तथा ग्राहकों के पास भेजा जाता था। जिन पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के पास इन्हें भेजा जाता था, उनमें मुख्य नाम हैं- प्रो० मोनियर विलियम्स, प्रो० मैक्समूलर, महादेव गोविन्द रानाडे, गोपाल राव हरिदेशमुख, पं० केशवचन्द्र सेन, सर टी० माधवराव, राजा जयकृष्णदास तथा महाराज होलकर आदि।

(xi) **यजुर्वेद भाष्य**

ऋग्वेद भाष्य आरम्भ करके ऋषि ने यजुर्वेद का भाष्य करना आरम्भ कर दिया। चारों वेद-संहिताओं में मात्र यजुर्वेद-संहिता का ही भाष्य ऋषि पूर्ण कर पायै इस यजुर्वेद भाष्य को पूर्ण करने में चार वर्ष दस महीने लगे। ऋग्वेदभाष्य के साथ यजुर्वेद-भाष्य को आरम्भ ऋषि ने पं० गोपालराव हरिदेशमुखजी की सम्मति से किया था ऐसा अनेक एक पत्र से ज्ञात होता है। कर्मकाण्डप्रधान यजुर्वेद का सत्य अर्थ जनता में प्रचारित करना देशमुखजी आवश्यक समझते थे, क्योंकि यजुर्वेद के नाम पर मिथ्या अनर्थक कर्मकाण्ड हिन्दू-समाज में प्रचलित था। ऋषि अपने देहावसान तक वेदभाष्य करने में व्यस्त रहे। जोधपुर में एक षड्यन्त्र के तहत विष प्रदान के फलस्वरूप मृत्यरूपी महान् विघ्न के कारण उनका चारों वेदो के भाष्य का कार्य अपूर्ण रह गया। पुनरपि स्वामीजी जितना भी वेदभाष्य कर गये निश्चित ही उससे वेदार्थ की प्राचीननिर्दिष्ट-प्रक्रिया का वास्तविक मार्ग प्रशस्त हो गया।

वेदभाष्य का वैशिष्ट्य

ऋषि दयानन्द की वेदविषयक विचारधारा तथा उनके

वेदभाष्य के वैशिष्ट्य पर अनेक विद्वानों ने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। यहां हम स्वामीजी की कतिपय वैदिक मान्यता और वेदभाष्य सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख करतें हैं-

(क) दयानन्द वेदभाष्य से पूर्व सभी सायणादि वेदभाष्य संस्कृत भाषा में ही थे। दयानन्दकालीन योरोपीय विद्वानों के भाष्य अंग्रेजी आदि विदेशी भाषा में उपलब्ध थे। किन्तु ऋषि ने संस्कृतभाषा के साथ-साथ जनसामान्य में व्यहृत हिन्दीभाषा = आर्यभाषा में भी वेदो का भाष्य उपलब्ध करा दिया। यह स्वामीजी के वेदभाष्य का व्यावहारिक वैशिष्ट्य है।

(ख)वेद किसी एकवर्गविशेष की धराकरि नहीं हैं। उस पर मानवमात्र का उसी प्रकार अधिकार है, जैसे संसार के जल-वायु प्रभृति-प्रदत्त पदार्थ सबके लिए है। स्त्री शूद्रादि वर्णस्थ व्यक्तियों को अनधिकार की चर्चा ऋषिकृत ग्रन्थों में नहीं हैं या परवर्ती प्रक्षेप हैं।१५ क्योंकि भारत के इतिहास में कवष ऐलूश तथा मातङ्ग सदृश अनेक व्यक्ति प्रसिद्ध हैं, जा शूद्र तथा अन्त्यज कुलों में उत्पन्न होकर वेदादि का अध्ययन कर 'ऋषि' पद को प्राप्त हुये।[१६]

(ग) वेद सभी सत्यविद्याओं का पुस्तक है।वेदों में पशुबलि, नरबलि, मांस-भक्षण, परस्त्री-गमन आदि अनैतिक कार्यो का समर्थन तथा अश्लील बातें नहीं हैं। जो वेदभाष्य इनका समर्थन करते हैं, वे भ्रान्त है।

(घ) वेदों में परमेश्वर से प्रार्थना और उसकी उपासना के लिए एक ही ईश्वर का वर्णन है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र आदि देववाची पद एक ही परमेश्वर के विभिन्न क्षेत्रों में अग्नि, सूर्य, विद्युत, आत्मा, प्राण, राजा, सेनापति, वैद्य, विद्वान् आदि अर्थों को भी देते हैं।

(ङ)वेद के मन्त्रों में किन्हीं ऋषियों, राजाओं, नदियों आदि का इतिहास नहीं है। ऐतिहासिक प्रतीत होनेवाले वाक्यों का यौगिक अर्थ है। वेदों के शब्द यौगिक हैं, किसी एक ही अर्थ में रूढ़ नहीं हैं। इस कारण वे अनेक अर्थों को प्रकट करने में समर्थ हैं। यह आग्रह करना उचित नहीं है कि लोक में किसी शब्द का जो अर्थ है, केवल वही अर्थ सर्वत्र वेद में भी अभिप्रेत है।

(च) वेदार्थ करते हुए पूर्वकृत विनियोगों का अनुसरण करना अनिवार्य नहीं हैं। उनसे स्वतन्त्र होकर भी वेदार्थ किया जा सकता है। इसके साथ ही वे ही विनियोग स्वीकार करने योग्य हैं, जो युक्तिसिद्ध, मन्त्रार्थानुसारी और वेदादि प्रमाणों के अनुकूल हैं।

(छ) स्वामीजी से पूर्ववर्ती कोई भी वेदभाष्य कार अपने भाष्यों में प्रति मन्त्र षड्जादि गानविद्यापयोगी स्वरों का उल्लेख नहीं करता। षडजादि सप्तस्वरों का प्रथम उल्लेख स्वामी दयानन्द ने ही किया है। यह स्वर-निर्देश महर्षि के यथोपलब्ध ऋग्वेद भाष्य और सम्पूर्ण यजुर्वेद भाष्य में देखा जा सकता है।

शोधच्छात्रा

हिन्दी विभाग, डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद (उ०प्र०)

पाद टिप्पणियाँ

१.पं० लेखराम, ऋषि दयानन्द का जीवन चरित्र, पृ० १६९, प्रथम संस्करण, २०३४ विक्रम संवत् प्रकाशक-आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, २ एफ, कमलानगर, दिल्ली-७

२.डॉ० भवानीलाल भारतीय, दयानन्द साहित्य सर्वस्व, पृ० २२(दयानन्द वाङ्मय सूची के अर्न्तगत) प्रकाशक-महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण, १९८३ ई०।

३.पं० युधिष्ठिर मीमांसक, ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास, पृ० १३१, रामलाल कपूर ट्रस्ट(सोनीपत-हरियाणा) १९८३ ई०।

४.प्रो० मैक्समूलर-india whath can it Teach US? का हिन्दी अनुवाद 'हम भारत से क्या सीखें?' पृ० १०२, अनुवाद-श्री कमलाकर तिवारी एवं रमेश तिसारी, प्रकाशक-इतिहास प्रकाशन संस्थान, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, जुलाई १९६४ ई०।

-शेष भाग पृष्ट ४७ पर.....

मीमांसा दर्शन में निषेध विमर्श

– प्रशान्त

अखिल भारतीय दर्शन शास्त्र मनुष्य मात्र के लिए सुखप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। मीमांसा दर्शन छह दर्शनों में अन्यतम और अत्यन्त विस्तृत है। समग्र मीमांसा शास्त्र धर्म की व्याख्या प्रस्तुत करता है[१] तथा यागादि को ही धर्म स्वीकार करते[२] हुए सम्पूर्ण वेद को धर्म का प्रतिपादक मानता है। मीमांसकों के अनुसार समग्र वैदिक मन्त्रराशि किसी न किसी रूप में यागादि धर्म का ही प्रतिपादन करती है इसी कारण सम्पूर्ण वेदमन्त्रों का विभाजन यज्ञों की उपयोगिता के प्रकार पर आधारित है। मीमांसकों का दृढ सिद्धान्त है कि सभी मन्त्र और मन्त्रांश क्रियार्थक हैं और इसी से उनकी सार्थकता है।[३] किन्तु सभी मन्त्र साक्षात् क्रियार्थक नहीं हैं। कुछ मन्त्र विधान करते हैं, कुछ निषेध करते हैं, कुछ द्रव्य और देवता आदि का स्मरण कराते हैं, कुछ यागों का नाम बतलाते हैं और कुछ प्रशंसा या निन्दा करके कृतार्थ होते हैं। मीमांसक इन सभी प्रकारों को मुख्य अथवा गौण रूप में क्रिया का ही प्रतिपादक मानते हैं अत: वेद में जितने वाक्य हैं वे पाँच प्रकार से क्रिया की सिद्धि करते हैं इसीलिए इनको पाँच भागों में विभक्त किया गया है– **१. विधि, २. मन्त्र, ३. नामधेय, ४. निषेध, ५. अर्थवाद।**[४]

प्रस्तुत लेख में वेद के विभाग 'निषेध' पर विचार किया जा रहा है–

वैदिक वचनों का एक वर्ग 'निषेध' है। प्रतिषेध करने से मनुष्य के उन उद्देश्यों की पूर्त्ति होती है जिनसे वह अवाञ्छित फल उत्पन्न करने वाले कर्मों से बचता है।[५] वेदवाक्य के द्वारा बतलाये गये कर्म को सुनते ही उसमें जैसी श्रेयस्कर बुद्धि हो जाती है और मनुष्य की प्रवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार निषेध वाक्य के सुनते ही निषिद्ध कर्म में अनर्थकारिणी बुद्धि उत्पन्न होकर उससे निवृत्ति हो जाती है।[६] विधिवाक्य पुरुष को स्वर्गादि इष्ट साधन की प्राप्ति हेतु प्रेरित करते हैं। इसी प्रेरणा के कारण विधिवाक्यों की सार्थकता होती है और विधि स्थलों में प्रवर्त्तना वाक्य का अर्थ होती है। इसी प्रकार निषेध स्थलों में निवर्त्तना वाक्यार्थ होती है, यही निषेध की सार्थकता है। जैसे– **न कलञ्जं भक्षयेत्** कल्ञ्ज (विषाक्त पशुपक्षियों का मांस अथवा रक्त लशुन) का भक्षण न करें।

इस निषेध का ज्ञापन 'नञ्' के द्वारा कराया जाता है। इसके अन्तिम वर्ण 'ञ्' का लोप कर दिया जाता है तथा सामान्यत: 'न' का प्रयोग किया जाता है। इसका निषेध के अर्थ में स्वतन्त्र प्रयोग भी होता है और सुबन्त के साथ समास करके भी।[७] उत्तर पद के परे होने पर 'न' का 'अ' हो जाता है[८], और अजादि उत्तरपद के परे होने पर 'अन्' हो जाता है।[९]

जैसे– **'न कलञ्जं भक्षयेत्', 'अब्राह्मणः', 'अनश्वः'।** अब यहाँ मीमांसकों के सामने प्रश्न उठता है कि निवर्त्तना का बोध कराने के लिए 'नञ्' का सम्बन्ध निषेध वाक्य में किसके साथ किया जाये? इसका स्पष्ट उत्तर है कि प्रवर्त्तना का ज्ञान क्रिया पद के जिस लिङ् अंश से होता है, निवर्त्तना के ज्ञान के लिए भी 'नञ्' का योग उसी अंश से होना चाहिए। उदाहरणार्थ– 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस वाक्य में 'न' का सम्बन्ध सामान्यतया कलञ्ज के साथ प्रतीत होता है। किन्तु मीमांसा शास्त्र के अनुसार निषेध में निवर्त्तना मुख्यत: अपेक्षित होती है और कलञ्ज संज्ञापद है अत: वह निवर्त्तना का बोध नहीं करा सकता। अब अवशिष्ट वाक्यांश 'भक्षयेत्' है। इस क्रियापद में भक्ष् (धातु) और ति (तिङ् प्रत्यय) ये दो अंश हैं। इन्हीं दोनों में से किसी के साथ 'न' का सम्बन्ध लगाना होगा। इस अवस्था में 'न' और 'भक्ष्' ये दोनों पद अत्यन्त

समीप हैं तथा अव्यवहित होने के कारण 'न' का सम्बन्ध 'भक्ष्' के साथ होने में कोई दोष प्रतीत नहीं होता। किन्तु 'भक्ष्' धातु के साथ 'न' का योग नहीं हो सकेगा क्योंकि 'भक्ष्' धातु तिङ् प्रत्यय के प्रति उपसर्जन (अप्रधान) है। मीमांसा शास्त्र का नियम है कि क्रियापदों में प्रत्ययार्थ (भावना) की प्रधानता होती है धात्वर्थ गौण होता है, अतः 'न' का योग प्रत्ययार्थ के साथ ही होगा क्योंकि गौण रूप में उपस्थित पद या पदार्थ अपने से भिन्न प्रकार के पद या पदार्थ के साथ अन्वित नहीं हो सकता।[१०] जैसे- 'राजपुरुषमानय' में आनयन क्रिया का सम्बन्ध पुरुष के साथ होता है क्योंकि राजा गौण है। यदि आनयन का सम्बन्ध राजा के साथ जोड़ दिया जाये तो राजा को भी आना पड़ेगा किन्तु लोकव्यवहार में ऐसा नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार 'भक्ष्' धातु प्रत्ययार्थ (भावना) के प्रति गौण है। अतः धातु के साथ 'न' का योग सम्भव नहीं हो सकता। लोक में भी देखा जाता है कि गृहस्वामी (पिता आदि) का निर्णय सामाजिक व्यवहारों में मान्य होता है घर के अन्य सदस्यों का नहीं क्योंकि पिता आदि की अपेक्षा अन्य गौण होते हैं।

मीमांसा दर्शन में क्रियापदों में धात्वंश के अतिरिक्त प्रत्यय के भी दो अंश माने जाते हैं- १. आख्यातत्त्व, २. लिङ्त्व। इनमें प्रत्यय के आख्यातत्त्व धर्म से आर्थी भावना (प्रवृत्ति या सम्पादन) का बोध होता है और लिङ्त्व अंश से शाब्दी भावना (प्रवर्त्तना या चाहिए) अर्थ का बोध होता है। प्रत्यय के इन दोनों धर्मों में प्रवर्त्तना (शाब्दी भावना) प्रधान होती है और प्रवृत्ति (आर्थी भावना) गौण होती है। अतः 'न' का योग सर्वप्रधान लिङ्त्व धर्म से बोधित (शाब्दी भावना) के साथ होता है। इस प्रकार प्रवर्त्तना के स्थान पर निवर्त्तना का बोध हो जाता है।

इस प्रकार उक्त वाक्य का अर्थ होगा-

कलञ्ज (संज्ञा) भक्षण (क्रिया) करना (आर्थी भावना या सम्पादन) न = नहीं (निषेध) चाहिए (शाब्दी भावना)। अर्थात् कलञ्ज भक्षण से निवृत्त हो जाये। इस प्रकार 'न' का सम्बन्ध शाब्दी भावना के साथ होने से निवर्त्तना अर्थ का स्पष्ट बोध होता है। अतः यहाँ यह भी स्पष्ट है कि विधि (आज्ञा, प्रवर्त्तना) में अधिकारी वह होता है जो स्वर्ग की कामना करता है और निषेध (निवर्त्तना) में वही अधिकारी है जो अनर्थ से दूर रहना चाहता है इसीलिए प्रवर्त्तना और निवर्त्तना सर्वथा भिन्न और वेद के याज्ञिक विभागों के रूप में सार्थक हैं।

अब तक यह प्रतिपादित किया गया कि निवर्त्तना के ज्ञान के लिए 'न' का अन्वय प्रत्ययार्थ के साथ करना चाहिए किन्तु कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ प्रत्ययार्थ के साथ 'नञ्' का अन्वय करने में बाधा आती है और सभी वाक्यों की एकवाक्यता नहीं बन पाती और वाक्य अनर्थक होने लगते हैं। इस आपत्ति से बचने के लिए कुछ स्थलों पर 'न' का अन्वय प्रत्ययार्थ से न करके धात्वर्थ से किया जाता है। इस प्रकार के दो स्थल हैं जहाँ उक्त सम्बन्ध में बाधा पड़ती है-

१. 'तस्य व्रतम्' यह उपक्रम (आरम्भ)

२. 'विकल्प-प्रसक्ति'।

प्रथम स्थल इस प्रकार है- मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय में स्नातक के द्वारा अवश्यकरणीय व्रतों का उल्लेख है।[११] व्रत वह मानस व्यापार है जिसको सम्पन्न करना अपेक्षित है। स्नातक के कर्त्तव्यों का प्रारम्भ '**तस्य व्रतम्**' कहकर किया गया है इसका तात्पर्य है कि- इन परिगणित कर्त्तव्यों का अनुष्ठान स्नातक को करना ही है जैसे- पयः पिबेत्, स्वशाखां पठेत् इत्यादि विधिवाक्यों में स्पष्टतया कर्त्तव्यतया सम्पादन बोधित हो जाता है किन्तु '**नेक्षेत् उद्यन्तमादित्यम्**' में तो 'न करना' बोधित हो रहा है इसमें सम्पादन के लिए कुछ भी प्रतीत नहीं होता। जबकि व्रत का सम्बन्ध करणीयता से है। यह विरोध इसलिए हो रहा है कि 'नेक्षेत्' में 'न' का अन्वय प्रवर्त्तना रूपी प्रत्ययार्थ के साथ किया गया है। अतः प्रवर्त्तना की विरोधी निवर्त्तना व्यक्त हो रही है। जिसमें किसी कर्म की करणीयता पर जोर नहीं है अपितु न करने पर बल है। जब तक प्रवर्त्तना नहीं

होगी तब तक 'व्रतम्' से निर्दिष्ट कर्म की निष्पत्ति सम्भव नहीं है।

इस विरोध के परिहारार्थ अर्थसंगति के लिए 'न' का अन्वय प्रत्ययार्थ से न करके धात्वर्थ के साथ किया जाता है। 'न + ईक्ष् + त्' यहाँ 'न' का सम्बन्ध 'त्' के साथ न होकर 'ईक्ष्' के साथ है। 'न' जहाँ लगता है उससे विरुद्ध अर्थ की प्रतीति कराता है अत: ईक्षण के साथ लगा हुआ 'न' ईक्षण के विरोधी अर्थ की प्रतीति करा देता है। यहाँ पर ईक्षण का विरोधी अनीक्षण संकल्प है, जो लक्षणा से आता है।

यदि अभिधा से 'ईक्षण का विरोधी अनीक्षण' इतना ही अर्थ लिया जाता तो असंगति बनी ही रहती क्योंकि अनीक्षण में भी 'न करने' पर ही बल है, किन्तु 'संकल्प' अर्थ जोड़ देने पर 'व्रतम्' का अर्थ घटित हो जाता है क्योंकि अनीक्षणसंकल्प मानस व्यापार है और किया जा सकता है। अत: लक्षणा का आश्रय लिया गया है। इस आधार पर मीमांसा शास्त्रानुसार '**नेक्षेत् उद्यन्तमादित्यम्**' का अर्थ होगा- '**आदित्यविषयक अनीक्षणसंकल्प से भावना करे।**' 'किसकी भावना करे' इस प्रकार की साध्याकाङ्क्षा होने पर '**एतावता हैनसा वियुक्तो भवति**' इस वाक्य से ज्ञात हो जाता है 'पापक्षय' की भावना करे। अर्थात् स्नातक निर्दिष्ट व्रतों का सम्पादन करने पर पाप से मुक्त हो जायेगा। उपर्युक्त प्रकार से 'न' का अन्वय प्रत्ययार्थ के साथ न करके धात्वर्थ से करने पर ईक्षण के विरोधी अनीक्षणसङ्कल्प अर्थ लेने पर '**तस्य व्रतम्**' '**नेक्षेत्** ' '**एतावता**' इत्यादि में एकवाक्यता सिद्ध हो जाती है और असङ्गति नहीं होती। इसीलिए यहाँ पर्युदास का आश्रय है।

प्रत्ययार्थ के साथ 'नञ्' के अन्वय का द्वितीय बाधक स्थल विकल्प प्रसक्ति है। विकल्प को स्वीकार न करना पड़े इसलिए भी कहीं-कहीं 'न' का अन्वय प्रत्ययार्थ के साथ न करके प्र ति (धातु) के साथ किया जाता है।

जैसे- ''**यजतिषु ये यजामहे करोति नानुयाजेषु**''[१२] इस वाक्य में यजति का अर्थ याग मात्र है अत: सामान्यत: इस वाक्य का अर्थ होता है यागों में '**ये यज्ञामहे**' इस मन्त्र को बोला जाये, अनुयाजों '**ये यजामहे**' न बोला जाये। ऐसा अर्थ इसलिए होता है कि 'न' का अन्वय करोति के 'ति' प्रत्यय के साथ हुआ है। इस प्रकार अनुयाजों में उक्त मन्त्र का निषेध प्राप्त होता है। अत: प्रथमत: अनुयाजों में उक्त मन्त्र की प्राप्ति प्रदर्शित करनी होगी। यह प्राप्ति '**यजतिषु ये यजामहे करोति**' इसी शास्त्र से दिखानी पड़ती है। अत: शास्त्र वाक्य से ही प्राप्ति है और शास्त्र से ही प्रतिषेध है ऐसी स्थिति में विकल्प का आश्रय लेना पड़ता है अन्यथा विधि और निषेध दोनों में से किसी एक शास्त्रीय वचन का अप्रामाण्य होगा। यह मीमांसा शास्त्र का सिद्धांत है। विकल्प के आश्रयण में अनेक दोष उपस्थित हो जाते हैं और वाक्यों की असंगति हो जाती है। इस सारी समस्या से बचने के लिए 'न' का अन्वय करोति के 'ति' प्रत्यय के साथ न करके 'अनुयाज' के साथ किया जाता है और उक्त वाक्य का अर्थ होता है ''अनुयाज से भिन्न यागों में '**ये यजामहे**' मन्त्र बोलना चाहिए।''

मीमांसकों के अनुसार 'नञ्' स्वविरोधी का प्रत्यायन अभिधा शक्ति से कराता है किन्तु उक्त वाक्य में 'नञ्' का अर्थ विरोध न लेकर 'भेद' लिया गया है। निश्चय ही भेद और विरोध अलग-अलग अर्थों का बोध कराते हैं। दो परस्पर भिन्न वस्तुएँ विरोधी भी हों यह आवश्यक नहीं। अत: अभिधेयार्थ विरोध ग्रहण करने पर एकवाक्यता नहीं रह पाती अत: मुख्यार्थ का बोध करके लक्ष्यार्थ 'भेद' का ग्रहण किया गया है। ऐसा करने पर यागों में 'ये यजामहे' मन्त्र के प्राप्त होने से और अनुयाजों में प्राप्त न होने से दोनों की स्थिति दो प्रकार की अलग-अलग है। अत: विकल्प का कोई प्रसङ्ग नहीं बनता। अनुयाजों में न तो 'ये यजामहे' की कर्तव्यता प्राप्ति है और न प्रतिषेध है। पर्युदास का आश्रयण करने से ही ऐसा सम्भव है क्योंकि पर्युदास का स्वभाव ही ऐसा है।

इस प्रकार मीमांसकों द्वारा स्वीकृत वेद का 'निषेध' नामक विभाग यागों की दृष्टि से अतिमहत्त्वपूर्ण और गम्भीरता से विचारणीय है।

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-०७

सन्दर्भ सूची-

१ धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम् (श्लोकवार्त्तिक- ११)
२ यागादिरेव धर्मः (अर्थसंग्रह)
३ आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् (मीमांसा सूत्र १/२/१)
४ स च विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः (अर्थसंग्रह)
५ अनर्थहेतुकर्मणः सकाशात्पुरुषस्य निवृत्तिकरत्वेन निषेधानां पुरुषार्थानुबन्धित्वम्। (मीमांसा न्यायप्रकाश, निषेध प्रकरण)
६ पुरुषस्य निवर्त्तकं वाक्यं निषेधः, निषेधवाक्यानामनर्थ-हेतुक्रियानिवृत्तिजनकत्त्वेनार्थवत्त्वात्। (अर्थसंग्रह)
७ नञ् (अष्टाध्यायी २/२/६)
८ न लोपो नञ् (अष्टाध्यायी ६/३/७२)
९ तस्मान्नुडचि (अष्टाध्यायी ६/३/७३)
१० न ह्यन्योपसर्जनत्वेनोपस्थिमन्यत्रान्वेति, अन्यथा राजपुरुषमानयेत्यादावपि राज्ञः क्रियान्वयापत्तेः (अर्थसंग्रह)
११ अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः।
स्वर्गायु ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्।।
नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्।।मनु. ४/१३
१२ अर्थसङ्गह (निषेध प्रकरण)

शेष भाग पृष्ट-४३ का...

५.घासीराम, महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, भाग-१, पृ० ३३१, प्रकाशक- आर्यसाहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर, चतुर्थावृत्ति, २०१८ वि० संवत्।
६.युधिष्ठिर मीमांसक,ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास, पृ० ११८।
७.वही, पृ० ११२।
८.वही,पृ०१२४।
९.भ्रान्तिनिवारण (दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रहः), पृ० १९८, प्रकाशक-रामलाल कपूर ट्रस्ट, आर्यसमाज शताब्दी संस्करण, १९७४ ई०।
१०.वही, टिप्पणी संख्या-५।
११.युधिष्ठिर मीमांसक, ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास,पृ० १६४।
१२.आर्याभिविनय(दयानन्द-लघुग्रन्थ-संग्रहः),पृ० ४५, प्रकाशक-रामलाल कपूर ट्रस्ट,(सोनीपत-हरियाणा), शताब्दी संस्करण,१९७४ई०।
१३."जिस समय मैनेंयह ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने, और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान नथा, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी"- सत्यार्थप्रकाश की भूमिका पृ० ३, सत्यार्थप्रकाश का आर्यसमाज-शताब्दी संस्करण, १९७४ ई०, सम्पादक-पं० युधिष्ठिर मीमांसक प्रकाशक-रामलाल कपूर ट्रस्ट।
१४.युधिष्ठिर मीमांसक, ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास, पृ० १३९-४०।
१५.ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज(भाग-१, सिद्धान्त खण्ड) पृ० ३६, ६३, ५७३७४।लेखक -सम्पादक-डॉ० ज्वलन्तकुमार शास्त्री,प्रकाशक-श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धमार्थ न्यास,हिण्डौन सिटी (राज०) -३२२ २३०।
१६. (क) कवष ऐलूश दासी का पुत्र था, अपोनप्त्रीयूक्त (ऋग्वेद १०।३०-३४ सूक्त)का द्रष्टा हुआ द्रष्टव्य -सत्यव्रत सामश्रमी,ऐतरेयलोचन,पृ० १४-१५
(ख) मातङ्गस्थाने मातङ्गो ब्राह्मण्यमलभद् भरतर्षभ।
चण्डालयोनौ जातौ हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान् ॥
(महाभारत, अनु. पर्व३। १९)

आख्यातपदलक्षणम्

-अजीतकुमारः

व्याकरणं किल पदशास्त्रम्। पदशब्देन सुबन्तस्य तिङन्तस्य च बोधो भवति। तत्र सुबन्तपदेन नामनिपातोपसर्गाणां पदानां ग्रहणं भवति। तत्र रामकृष्णमुकुन्दादयः सामपदानि, च ह वा इत्यादि निपातपदानि। प्र,परा,अप समित्यादि चोपसर्गपदानीति प्रसिद्धम्। तिङन्तपदेन च पचति, पठति, गच्छति, इत्यादि क्रियापदं गृह्यते। नामाख्यातयोर्यो न वाक्यं भवति। तत्र वाक्यार्थबोधे आख्यातस्य प्राधान्यं भवति, अतः आख्यातलक्षणं किमिति प्रस्तूयते।

तत्र तावद् ऋग्वेदप्रातिशाख्ये यत्र ''तन्नाम येनाभिदधाति सत्त्वमिति'' नामलक्षणं प्रोक्तम्, तत्रैवानुपदं ''तदाख्यातं येन भावं, स धातु[१]'' रित्यभिहितमाख्यातस्वरूपमपि। अस्य सूत्रस्यायमर्थो यत् येन=शब्देन भावं क्रियामभिदधाति स धातुः आख्यातमुच्यते। ततश्च नामपदं सत्त्वप्रधानमाख्यातपदं च क्रियाप्रधानमिति नामाख्यातयोः स्वरूपवैलक्षण्यं स्पष्टं प्रतिभाति। क्रियायाः प्राधान्यमेवाख्यातस्वरूपपरिचायकमिति प्रायः सर्वैः स्वीक्रियते।

तथाहि शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्येऽपि ''क्रियाप्रधानमाख्यातमिति[२]'' स्पष्टमेवोक्तवम्। सामान्यतस्तु व्यापारबोधकः क्रियाशब्दो व्यवहारे प्रचलति। प्रातिशाख्यात्परं यास्काचार्येणाऽपि ''भावप्रधानमाख्यातमिति[३]'' पूर्वोक्तमाख्यातलक्षणमेव समर्थितम्। एतच्च भावप्रधानम्, क्रियाप्रदानम् वा तिङन्तपदे एव बोध्यते न केवले धातौ, न केवले तिङ्प्रत्यये वेति आख्यातपदं तिङन्तबोधकमिति निश्चयः।

यद्यपि सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति निरुक्तवाक्ये आख्यातजानि इत्यस्य धातुजानीति व्याख्यानमुपलभ्यते तस्मात्, आख्यातपदेन धातोरपि ग्रहणमस्तीति वक्तुं शक्यते, तथापि न केवलेन धातुना नाम्नां व्युत्पादनं भवतुमर्हति, अपितु सप्रत्ययेन धातुरूपणेति। तत्राप्याख्यातपदं तिङन्तबोधकमेव पर्यवस्यति। तिङन्तरूपाख्यातजानि सर्वाणि नामानीति तद्वाक्यतात्पर्यमिति मन्तव्यम्।

मीमांसाशास्त्रेऽपि मुख्यतः आख्यातपदेन तिङ्पदमेव गृहीतमस्ति। यथा मीमांसादर्शने-''येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तान्याख्यातानि''[४] इत्युक्तम्। अस्य सूत्रस्य शाबरभाष्यमेवमस्ति ''येषां शब्दानामुच्चारणोत्पत्तौ स्वे अर्थे प्रयोगो न विद्यते, प्रयोगकाले येषामर्थो नोपलभ्यते इत्यर्थः, तान्याख्यातानीति भावशब्दान् पर्यायशब्देनोपदिशति। कथं पर्यायशब्दता भावशब्दानाम्[५] यत् एषां विभक्तयः आख्यातिक्य इत्युच्यन्ते, कतमास्ताः पचति पचतः पचन्तीत्येवमादयः''। एतेन भाष्येण स्पष्टं भवति यद् भावप्रधानभाख्यातमिति प्रसिद्धप्रातिशाख्य-निरुक्त-प्रोक्तलक्षणमेवार्थतोऽनुसरति जैमनिमुनि-प्रोक्तमाख्यातलक्षणमपि। किन्तु मीमांसकेषु आपदेवः स्वकीयमीमांसान्यायप्रकाशे ''यजेत स्वर्गकामः'' इति वाक्यविवरणे आख्यातशब्दमेव विविनक्ति ''यजेत इत्यत्रांशद्वयम्, यजि धातुः,

प्रत्ययश्च। तत्र प्रत्ययेऽपि अस्त्ययंशद्वयमाख्याततत्वं लिङ्त्वं च आख्याततत्वं च दशलकारेषु विद्यते, लिङ्त्वं पुनः केवलं लिङ्येव। तत्र आख्याततत्वलिङ्त्वाभ्यां भावनैवोच्यते[५] इति। अत्र आख्यातपदेन केवलप्रत्ययग्रहणे चेदमेव कारणं यद् मीमांसकमते पचति, आगच्छन्तीत्यादि तिङ्न्तस्थले फलं धात्वर्थः भावना च प्रत्ययवाच्या भवति, ततश्च आख्यायेते कर्तृकर्मणी येनेति व्युत्पत्तिमङ्गीकृत्य तिङ्पर्यायत्वेनाख्यातपदव्यवहारो जातः।

मीमांसादर्शनवन्नव्यन्यायदर्शनेऽपि प्राचीन–नैयायिकैराख्यातस्वरूपं भावप्रधानमुक्तम्। तथाहि उद्योतकरो भारद्वाजः "क्रियाकालिकप्रयोगाभिधायिक्रियाप्रधानमाख्यातमिति"[६] स्पष्टमेवोक्तवान्, यतोहि क्रियाकालिकप्रयोगाभिधायित्वं तिङन्तपदे एव भवति नतु धातुविरहिते केवले तिङ्प्रत्यये। तस्मात् प्राचीनन्यायसम्मतमाख्यातलक्षणमपि पूर्वोक्तप्राति–शाख्यानुरूपमेवास्ति।

नव्यनैयायिकेषु जगदीशभट्टाचार्यः

धात्वर्थेन विशिष्टस्य विधेयत्वेन बोधने।

समर्थः स्वार्थयत्नस्य शब्दो वाऽऽख्यातमुच्यते[७]

इत्याख्यातलक्षणमुक्त्वा धात्वर्थावच्छिन्न–पर्यायत्वादिति व्याख्यातवान्। तत्त्वतः पर्यालोचने तु तत्रापि धात्वर्थसम्बन्धस्यानियतत्वात् प्रकृतिप्रत्ययविशिष्टस्यैवाख्याततत्वं सिध्यति।

"अविशिष्टलिङ्गमाक्यातं क्रियावाचि"[८] इति कौटिल्यार्थ–शास्त्रोक्तमाख्यातलक्षणं तु स्पष्टमेव तिङ्ङन्तपदं वक्ति, यतोहि ततः सामान्यंलिङ्गता क्रियावाचकता च गम्यते, तच्च गच्छति–नमति–पठति–प्रभृतिषु तिङ्ङन्तेष्वेव दृश्यते। तथाहि तटः तटी तटमिति त्रिलिङ्गे ष्वपि 'गम्यते' इत्येकमेवाख्यातपदमुपयुज्यते। अन्यत्र कृदन्ते तु तटः गतः, तटी गता, तटं गतमिति व्यवह्रियते। तस्मात् क्रियावाचित्वे सति सामान्यलिङ्गत्वमाख्यातलक्षणं सर्वथा समुपयुक्तं भाति।

वैयाकरणसिद्धान्ते च आख्यायते स्म अनेनेति व्युत्पत्या योगरूढमाख्यतपदं निर्विवादं तिङ्ङन्तः पदबोधकमस्त्येव। अतएव महर्षिपाणिनिः मयूरव्यंसकादयश्चेति सूत्रस्थगणपाठे "आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्येत्यत्र[९]" तिङ्ङन्तमेव जग्राह। तेन अश्नीत पिबतेत्येवं सततं यत्राभिधीयते सा अश्नीतपिबता, खादतमोदतेत्यादि समासप्रयोगः सुसम्पन्नो भवति।यत्र वैयाकरणेष्वपि कौण्डभट्टः 'नन्वनयोराख्यातार्थत्वे किं मानम्[१०]' इत्यत्र कर्तृकर्मणोः आख्यातार्थत्वे तिङर्थत्वे मानमिति तिङ्पर्यायत्वेनाख्यातमुक्तवान्, तत्तु नव्यनैयायिकवासनयेति बोध्यम्। वस्तुतस्तु वाक्यार्थबोधे धात्वर्थे क्रियायाः प्राधान्यात् तिङ्ङन्तस्यैव ग्रहणं संभवति। अतएव नागेशभट्टेन "नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चेति"[११] भाष्यव्याख्याने आख्यातं तिङ्ङन्तमिति प्रोक्तम्। तस्मात् शाब्दिकानामाख्यातं तिङ्ङन्तमेव, न केवलं तिङिति बोध्यम्। इत्थं च प्रातिशाख्यादारभ्य क्रमशः मीमांसान्यायार्थशास्त्रव्याकरणसम्मतमाख्यातपदलक्षणमिह विवेचितम्।

शोधच्छात्रः
दिल्लीविश्वविद्यालयः

सन्दर्भग्रन्थ:–

१. ऋग्वेदप्रातिशाख्यस्य १२ पृ० सूत्रम् १९

२. शु०यजु०प्रा०अ० ८ सू० ४६

३. निरुक्तम् १.१.९

४. मीमांसादशनम् २अ० १पा० ४सूत्रम्

५. मीमांसान्यायप्रकाश:, पृष्ठ २ धर्मनिरूपणम्

६. न्यायवार्तिके २अ० २ आदि न० ६सूत्रे

७. शब्दशक्तिप्रकाशिकायाम्, पृ० ३९५ का० ९७

८. कौटिल्यार्थशास्त्रे २अदि० १०अ० १९सूत्रम्

९. सि०कौ०गणपाठे७५४।२।१।७२।१५

१०. वै०भू०सार:धात्वर्थनिरूपणे

११. व्या० महाभाष्यम् स्पशाह्निके

प्रश्न : क्या होम न करने से पाप होता है?

उत्तर :- हाँ, क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर में जितना दुर्गन्ध उत्पन्न हो के वायु और जल को बिगाड़ कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दु:ख प्राप्त कराता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक, वायु और जल में फैलाना चाहिये।

– महर्षि दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थ-प्रकाश, तृतीय समुल्लास)

पृष्ट-३७ का शेष भाग...

करता है[१४] इसीलिए वैदिक परम्परा निरन्तर कर्म करने के लिए जनमानस को प्रेरित करती है।[१५]

गुरुकुलकांगडी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उ0ख0)

सन्दर्भ सूची :-

१ न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवश: कर्म सर्व: प्रकृतिजैर्गुणै:।। गीता ३/५

२ द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। गीता १६/६

३ एके सत्पुरुषा: परार्थघटका: स्वार्थाविरोधेन ये। नीतिशतकम्

४ अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थिति:।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अंहिसा सत्यमक्रोधस्त्याग: शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेज: क्षमा धृति: शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। गीता १६/१-४

५ दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध: पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।। गीता १६/५

६ त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गंनित्यतृप्ता निराश्रय:।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति स:।।गीता ४/२०

७ गीता, सामर्पणभाष्य, पृ. ३७

८ किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता:।गीता ४/१६

९ गीता सामर्पणभाष्य ४/१७

१० गीता सामर्पणभाष्य ४/१८

११ विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।। यजु. ४०/११

१२ आहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं कुर्यादाहारं
प्राणसन्धारणार्थम्।प्राणा: सन्धार्यातत्त्वजिज्ञासनार्थं
तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दु:खम्।।

१३ इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीदथ
महती विनष्टि:।

१४ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय:। गीता ३/२०

१५ कुर्वन्नेवेह कर्माणि मा जिजीविषेत्। यजु. ४०/२

वैदिकवाङ्मये मानवाधिकारबोधः जीवनमूल्यानि च

-सुनीता

जगति मानवस्य परिष्करणं सुविचाराणां संक्रमणं कुप्रभावानामपाकरणं सर्वविधदोषाणां निराकरणं च मानवाधिकारैरेव विधीयते। तथा च मानवाधिकारैरेव मानवः सर्वविधसमुन्नतः सम्पद्यते। अत एव वैदिकवाङ्मये मानवव्यक्तित्वविकासाय अधिकाराणां व्यवस्था विहितास्ति। सा च व्यवस्था मानवतायाः वर्तते। एतदर्थमेव विश्वस्मिन्विश्वेकध्यात्मपरायणा त्यागमूला समन्वयात्मिका सहिष्णुतासंयुक्ता मानवता विशिष्टतमा वर्तते। यथा- **'वसुधैव कुटुम्बकम्' 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' 'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे' 'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** एतादश्यायाः विश्वबन्धुत्वभावनायाः उदात्ता उदारा च परिकल्पना अस्याः मानवतायाः सर्वातिशायिमहत्त्वं प्रख्यापयति। यतोहि जीवजगतः सार्वभौमसभ्यतायाः सम्पूर्णाः विषयाः वैदिकवाङ्मयार्णवे सन्निहिताः वर्तन्ते। अस्मादेव कारणात् अस्माकं सर्वेषु वेदेषु आरण्यक-ब्राह्मणोपनिषद्ग्रन्थेषु वेदाङ्गेषु पुराणेषु लौकिकसंस्कृतवाङ्मयेषु मानवतामाधारीकृत्यैव ज्ञानमध्ययनं चिन्तनं विवेचनं च प्रतिपदं सरहस्यात्मं गहनं विपुलं समुपलब्धं वर्तते। तच्च सर्वमन्तर्निहितं ज्ञान-विज्ञान-तत्वं विभिन्नोपायेन अनुसन्धानपूर्वकम् अमृतरसं निष्पाद्य विश्वकल्याणाय निरन्तरं वितरति। यतोहि सर्वे तत्त्वाः जीवनमार्गदर्शकैः सत्कर्तव्यसमुपदेशकैः मन्त्रैः श्लोकैश्च सम्पद्यन्ते-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।[1]

एवं मानवस्य आन्तरिकविकासं सम्पाद्य समस्तमानवसमाजमेकस्मिन्सम्बन्धसूत्रे आबध्य **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** इत्यस्य भावना चरितार्था भवति। इत्थं मानवः सर्वसमत्वं सर्वात्मभावं च सम्प्राप्य जीवनलक्ष्यं प्राप्नोति। अतः मानवाधिकारसन्दर्भे समासतः एतदेव निवेदयितुं प्रयासो विधीयते।

१ मनुर्भव -

मानवतायाः प्रसंगे ऋग्वेदे **'मनुर्भव'**[2] इति निर्देषो व्यधायि। वेदभगवान् आदिशति 'भो मानवाः! यूयं मननशीलाः स्थ। मनवोचितगुणैः सुभूषिताः भूत्वा यूयं यथार्थरूपेण मनसा वाचा कर्मणा च श्रेष्ठमानवाः भवत। एवं यथार्थमानवस्वरुपाय वैदिकवाङ्मये अत्यन्तोपयोगी सार्थकश्चोपदेशः प्रदत्तः। यदि मानवः उचितमार्गमनुसरेत्तर्हि निजजीवमादर्शस्वरुपं कुर्वाणः सर्वेषां जनानां विघ्नबाधाः दुःखानि च दूरीकर्त्तुं प्रयतमानः शान्तिस्थापनाय सहयोगं कर्तुमर्हति। अनेन सहैव यजुर्वेदे **'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'**[3] अर्थात् उत्तमविचारेषु सत्सु मनसः संकल्पाः शिवसंकल्पाः भवन्तु इति प्रार्थना विहितास्ति। तथा च यदा संकल्पाः कल्याणमयाः जायन्ते तदा विश्वबन्धुत्वस्य भावना स्वत एव प्रस्फुटीभवति। एतादृशी उदात्तभावना वैदिकवाङ्मये विद्यते। भावनामिमामङ्गीकृत्यैव मानवाः सर्वेभ्यो दुरितेभ्यो दूरे भवितुमर्हन्ति।

२. शिक्षायाः ज्ञानार्जनस्य चाधिकारः -

वेदे शिक्षा अपि मानवाधिकारस्याङ्गभूता ननु। सुशिक्षामवाप्य मानवः जीवनस्य पूर्णत्वं श्रेष्ठत्वं च सुनिश्चयेन प्राप्नोति। श्रेष्ठमानवनिर्माणाय शिक्षायाः महत्त्वार्थं दार्ढ्येन एकप्रकारिकास्वस्थोन्नतसामाजिकव्यवस्थायाः लाक्षणिकता विद्यते। यतोहि ऋते शिक्षायाः मानवः पशुरेव। अर्थात् मानवे शिक्षा एव एषा तत्वविशेषिका वर्तते यया मानवस्य पशोश्च भेदो ज्ञायते जायते च। शिक्षायाः ग्रहणमात्रेणैव मानवजीवनस्य कल्याणं निश्चितम्। तदर्थमेव केनचिदुक्तम्-

ग्राह्यं तु तस्यैव वस्तुनो भवति यल्लाभकरं स्यात्।
येन च जीवनस्य भीत्तिः सुस्थिरा स्यादिति।

सूक्ष्मदृष्ट्या यदि विचारः क्रियते तर्हि स्पष्टतया प्रतीयते यद् यानि कर्त्तव्यानि, यान्याचरणानि, यानि च

मानवतायाः हित-सम्पादकानि तानि शिक्षाशब्दस्यार्थभूतानि सन्ति।

शिक्षादृष्ट्या ब्रह्मचर्याश्रमोऽपि गौरवपूर्ण स्थानं धत्ते। मानवजीवनस्य वास्तविको विकासः जन्म च अस्मिन्नेवाश्रमे भवति। तथा चास्मिन्नेवाश्रमे सर्वविधकलानां शिक्षा प्राप्यते। अत एव मानवाधिकारस्य जिज्ञासुभिर्लेखकैः समाजस्य देशस्य वा शिक्षाप्रणाली गृह्यते। तां विना अपूर्णो मानवाधिकारः।

मानवतायाः समृद्धये एव वेदषु शान्तिवचनानि आम्नातानि। एतन्निमित्तं मनसो वाचि प्रतिष्ठा, वाचश्च मनसि प्रतिष्ठा नितरामावश्यकी। मनसा यदेव चिन्त्यते वाचा तदेव प्रकाशनीयम्। तथा च शान्तिवचनम्-

ओम् वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता।
मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।

मानवताया अभ्युन्नतये ज्ञानार्जनं कर्तव्यनिर्धारणं चावश्यकम्। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। अध्ययन-ज्ञानार्जन-कर्तव्यनिश्चयाः स्वाध्यायपर्यायत्वेन कर्तव्य-निर्धारणं चावश्यकम्। स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः। मनुष्याणामैहिकी आध्यात्मिकी च ऋद्धिःस्वाध्यायमाश्रित्यैव सम्पद्यते। यदभ्युन्नयनं मनुष्येतराणां प्राणिनां न सम्भवति। अतो गुरुः शिष्यमुपदिशति- '**स्वाध्यायान्मा प्रमदः**' इति। पशुस्तरतो मनुष्यस्तरलाभाय मनुष्यस्तरत च दैवीसत्तालाभाय महेषवसम्पन्नाः केचन गुणाः नित्यमनुशीलनीयाः भवन्ति। ऋते अनुशीलनात् मानवतायाः कुतः समृद्धिः? अवघातेन तिलात्तैलं जायते। अन्तर्निहिता शक्तिः आध्यात्मिकी शिक्षा। मनुष्यस्य स्वरुपावगतये शिक्षा हि पराविद्या, तद्व्यतिरिक्ताः सर्वाः अपराविद्याः।

पराविद्यया एव अक्षरमधिगम्यते, आत्मनः स्वरुपमधिगम्यते, आत्मस्वरुपमजानता जनेन सन्मार्गविधानं किं सम्भवेत्? अतः मानवतासाधिका शिक्षा कदापि नोपेक्षणीया। यतोहि वेदशास्त्रादिषु उपदिष्टा शिक्षा एव मानवाधिकारस्य बोधे प्रामुख्येन गण्यते इति।

एतदर्थं वैदिकवाङ्मये निहिता सुगुम्फिता च मानवता-साधिका शिक्षा सर्वेषां नैतिकमानसमृद्धये एकान्ततया आवश्यकी। एतेन ध्रुवं विश्वं भवत्येकनीडमिति भावना सार्थक्यं व्रजेदेव।

३. सामाजिककल्याणाय मानवस्य कर्तव्यानि -

सामाजिककल्याणाय साम्प्रतीके लोके कोलाहल एव श्रूयते। तथाकथितेषु साम्यवाद-समाजवाद-पूंजीवादादिजनघोषाकूलीभूते भूतले यत्र तत्र वर्गश्रेणी-हीनस्य मानवसमाजस्य स्थापना कर्तव्येति रूपेणोद्घोष्यते। सर्वेऽपि प्राणिनः समानपाणिपादवयोबुद्धिभाजः समानमेव जीवनाधिकार-मर्हन्ति। जन्मना मृत्युना च तुल्येऽपि सर्वेषामेवेहागते गते च समानेषु क्षुत्तृष्णादिविकारेषु कोऽयं भेदहेतुर्वराकवरयोरिति मनुष्यजातिरेकैव यर्थार्थतः कल्पिता एव वर्णताभेदाः नाऽद्यत्वे स्वीकार्या इति प्रवदन्ति। अस्पृश्याः मन्यमानाः तथाकथिताः शूद्राः आत्मनो हीनत्वं परेषां च वरीयस्त्वं नाधुना क्षमन्ते। तेषां जातीयां वर्णव्यवस्थां प्रति विरोधभावना कथञ्चित् सुतरां संगिरते।

अतो विचारणीयं भवति नाम सत्यमेतेषामभियोगः। किमनुचित एवाभवत् प्राचीनानामृषीणामत्र निर्बन्धो यत्र सामाजिककल्याणाय मानवस्य कर्त्तव्यानि दृक्प्रथमवतरन्ति मतिमतामिति को नाम संशयमेति? तद्यथा-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत।।[४]

तथा च -

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयत्।[५]

अनया दृषा चत्वारोऽपि वर्णाः आदिपुरुषात् विराजोऽधिप्रसूताः तस्यावयवत्वेन न कल्पिताः। शब्दान्तरेण समष्टिरियं व्यष्टिकल्पना।

एवं सामाजिककल्याणमनुसन्धाय यजुषि चाम्नातम्-ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं। मरुते वैश्यं। तपसे शूद्रम्।।[६]

अत्र मरुच्छब्देन मरुतो व्यापारो व्यपदिश्यते। तपसा च सेवाधर्मो निर्दिश्यते। यदा सर्वेऽपि वर्णाः सम्भूय कार्य स्वस्वधर्ममनुतिष्ठन्ति तदानीमेव सामाजिककल्याणं सम्भवतीति न कस्यचित् सचेतसश्चेतश्च-उलूकयति। इत्यादिभिर्मन्त्रलिंगैः सामाजिककल्याणाय मानवस्य

पृथक्-पृथक् कर्त्तव्यानि प्रतिपादितानि। तथा च सुप्रसिद्धे ऋग्वेदीये पुरुषसूक्ते सामाजिककल्याणाय मानवस्य कर्त्तव्यानि वर्णव्यवस्थाया: माध्यमेन चिन्तितानि। यदि समाजप्रसर: पुरुषकारेण पल्लवितो भवेत्तर्हि ब्राह्मणो मुखस्थानीय:। रक्षणप्रधानत्वात् बाहुस्थानीय:। उरू तदस्य यद्वैश्य: कोषसंरक्षणत्वात्। तथाकथितशूद्रा च पादस्थानीय: सेवाधर्मत्वात्। **'सेवाधर्म: परमगहनो योगिनामप्यगम्य:'** इति नीतिवचनाच्च। एवमिमे चत्वारोऽपि वर्णा: श्रुतिप्रतिपादिता: वेदे समुपदिष्टा: सामाजिककल्याणाय कल्पन्त इति नास्ति संशयावकाश:।

४. विश्वकल्याणभावना -

साम्प्रतं सम्पूर्णे अपि विश्वे प्रतिस्पर्द्धाभावना प्रवृत्ता वर्तते। शक्तिसम्पन्नो राष्ट्र: सामरिकदृष्ट्यया निर्बलं राष्ट्रमात्मविलीनं कर्तुमुद्यतोऽवलोक्यते। सामरिकरूपेण आर्थिकरूपेण वा विकासशीलो देशोऽभ्युन्नतिं गच्छत्विति विकसितसबलो देशो नेच्छति। उचितं त्विदमस्ति यद्विश्वस्य सर्वे देशा: समानरूपेण विकसिता: भवेयु:। किन्तु सिद्धान्तप्रवचनेन न किमपि साध्यम्। प्रसंगेऽस्मिन् यदि वयं वैदिकवाङ्मयस्य ग्रन्थानामनुशीलनं कुर्मस्तदा ईदृशी संकीर्णभावनासंशयं समाप्तिं गच्छेत्। वस्तुतो वैदिकवाङ्मयस्य शास्त्राणामध्ययनेन मन: शुद्धं भवति। यज्ञादिकार्यान्ते

स्वस्ति प्रजाभ्य: परिपालयन्तां न्याय्येन मार्गेण महीं महीशा:। गोब्राह्मणेभ्य: शिवमस्तु नित्यं लोकास्समस्ता: सुखिनो भवन्तु।। काले वर्षतु पर्जन्य: पृथिवी सस्यशालिनी। देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणा: सन्तु निर्भया:।।

इत्युदात्तभावनामवलोक्य वैदिकवाङ्मस्यौदार्य सहजगम्यं भवति। वैदिकवाङ्मये केवलम् आत्मकल्याणकामनैव न दृश्यते अपितु सर्वत्र समेषां कल्याणमभीप्सितम्। शास्त्रस्योद्घोषणास्ति यत्-

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दु:खभाग्भवेत्।।

एतादृशी उदात्तभावना नाऽन्यत्र द्रष्टुं शक्यते।

.५ धर्मस्यार्थस्य व्यापकता -

वैदिकवाङ्मये मानवजीवने पुरुषार्थचतुष्टयं परमपुरुषार्थे परिणमयति। धर्मस्तत्र जीवनाधार:। अत आत्महिताय जगद्धिताय च सदाचारादिकमाचरणीयम्। तथा चोक्तम्- **'आचार: परमो धर्म:'** इत्याचार: सदाचार:। मनुनाऽपि विश्वहितैषणा मनसि निधाय महता कण्ठेन एतदेव संक्षिप्तं लक्षणं समुपदिष्टम्- **'धृति: क्षमा दमोऽस्तेयम्'** इत्यत्र सदाचारदय: एव धर्मलक्षणत्वेनोपस्थापिता:। अहिंसादय च मानवताया: मूलसाधका:।

६. वैदिकवाङ्मये संस्कृतिरक्षणम् -

प्रकृतेर्विधानानुसारं संस्कृता पद्धतिरेव संस्कृतिरस्ति। संस्कृतिरेव दु:खाज्ञानान्धकारम् अपसार्य सुखज्ञानज्योति: प्रकाशयति। वैयक्तिक-सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिकजीवने कलाशिक्षयो: धर्मकर्मणि च संस्कारं कामयमानानां जनाानामभ्युदयमार्ग प्रशस्तं करोति।

अद्यावधि विशालं वाङ्मयं चेदवलोक्यते तर्हि भारतीयसंस्कृतेर्निरतिशयं कमनीयं चित्रं प्रस्फुटं भवेत्। इदं वर्णनं सम्यक्साधयति यद् भारतीयसंस्कृतिशब्देन लोके सामाजिका: राष्ट्रविशेषानुबन्धिनोऽनुवर्तमाना: केचिदाभारविशेषा: व्यवहारविशेषा चाभिधीयन्ते, ये इतरेषु समाजेषु, इतरेषु राष्ट्रेषु च नोपलभ्यन्ते तथा समाजविशेषस्य राष्ट्रविशेषस्य च असाधारणा: भवन्ति। तथाभूताचारविचारदृष्ट्या समीचीनाऽसमीचीना च सन्तोऽपि सर्वे संस्कृतिशब्देन लोके व्यवह्रियन्ते। किं बहूना वेशभूषा पारस्परिक-व्यवहारप्रभृतयोऽपि संस्कृतिशब्देन लोके व्यवह्रियन्ते। इति। परन्तु एषामपि बलवदनिष्टानष्टसाधनत्वेन सत्येव संस्कृतिशब्दार्थता युज्यते।

किन्तु वैदिकदृष्ट्या एकया भाषया उत्पादिताया: सभ्यताया: सरणि राष्ट्रियभावना वा यया जना: एकस्मिन्सूत्रे ग्रथिता: जायन्ते सेयं भावना तदीय राष्ट्रस्य संस्कृतिरित्यभिधीयते। तद्यथा संस्कृतेरगाधासूदधिभूतेषु वेदेषु आम्नायते-

ओं समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमषाम् इति।[७]

तथा च–

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[८]

अपि च–

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।।[९]

इत्यत्र सर्वेषां तृप्तिः, सर्वेषां स्वस्तिः, सर्वेषां शान्तिरेव कांक्षिताऽस्ति। एवं वैदिकवाङ्मये देशकाल–परिधिमतिक्रम्य विश्वमानवकल्याणवार्ता एवोद्घोषिताऽस्ति। सा च संस्कृतेः संरक्षणाय उद्घोषयति। तथाहि सम्पूर्णवैदिवाङ्मये वेदसहितेषु सम्पूर्णेष्वपि धर्मसूत्रेषु उपनिषत्सु दर्शनेषु स्मृतिग्रन्थेषु च सार्वकालिक्याः सार्वदेशिक्याः सार्वजनीन्या च संस्कृतेः स्वरूपमवलोक्यते। यथाहि–

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा।[१०]

अर्थात् अनेकत्वेकप्येकत्वं दधतः भारतवर्षस्य मस्तकं विश्वमानचित्रे प्रतिष्ठापयितुमियमेव संस्कृतिः सक्षमाऽस्ति। अतो दृढतया वक्तुं शक्यते यद् यावन्न वयं भारतीयां संस्कृतिं ज्ञास्यामः पठिष्याम आचारिष्यामस्तावन्नाऽस्माकं कल्याणं सम्भाव्यते। अपि च संस्कृतेः ज्ञानार्थं संस्कृतज्ञानं परमावश्यकमिति विदुषामभिप्रायाः। अतोऽस्माभिः संस्कृतं भारतीया संस्कृतिश्चावश्यं समुपासनीया।

अनयोरेवाक्षुण्णनिधयोः समाश्रयेण न केवलमस्माकमपितु प्राणिमात्रस्य नूनं कल्याणं भविष्यति।

उपसंहारः– एवं मनुष्यान् सन्मार्गानुसरणाय प्रेरयितुं वैदिकवाङ्मये जीवनमूल्यानां मानवताया च प्रतिपादकाः बहवः आदेशाः उपदेशाः सन्देशाः निर्देशा च विहिताः सन्ति। बहुविधाः प्रेरणादायिनः सिद्धान्ता च सन्निहिताः सन्ति। इत्थं मानवाधिकारसन्दर्भे एतद्वैशिष्ट्यं विलोक्य समाज–राजनीति–धर्म–दर्शन–कला–शिक्षा–प्रभृतिषु क्षेत्रेषु प्रसृतस्य मानवाधिकारसरितः कमनीयम् स्रोतः वैदिकवाङ्मये प्रदर्शितमस्ति। तच्च सर्वमधिकार–लोलुपस्याद्यतनस्य मानववर्गस्य ते परकीयाधिकारसंरक्षणं स्वकर्तव्यानुपालनं च नास्ति सारल्योपेतम्। अतो दुरुहेऽस्मिन् कर्मणि कथं मानवानां स्वतः प्रवृत्तिः स्यादिति चिन्तयेम चेद्वेदा एव शरणम्। प्रवृत्तिरूपा च मानवक्रिया स्वर्गावाप्तये इति परोपकारभावनाभरितो मानवः ऐहिके संसारे सत्क्रियया भौतिकोन्नत्यै यतमानः ऐश्वर्य प्राप्नुयात्। एवं नीति गुम्फिते वैदिकवाङ्मये '**मनुर्भव**' भावनायाः धार्मिकभावनायाः सामाजिककल्याणस्य भावनायाः शिक्षायाः ज्ञानार्जनस्य विश्वबन्धुत्वादिमानवतासाधकस्य तत्वस्य चालोचनं वैशद्येन समुपलभ्यते। तानि चाश्रित्य संकीर्णतामात्मकेन्द्रतां चापकर्त्तु शक्यते। एवमेतेषां सिद्धान्तानामनुकरणेन मानवेषु परस्परं सौहार्द भावना चोत्पद्यते। परिणामतो जीवने शान्तिसुखयोराविर्भावो जायते। अतः सम्प्रति स्वपूर्वजैः ऋषिभिराचार्यैः प्रदर्शिते प्रशक्ते मार्गे अस्माभिः प्रचलनं, पारस्परिकसद्भावस्थापनं, शान्तिमयं जीवनं चापेक्षितम्। तदर्थ स्थितयो विषमाः परिस्थितयः प्रतिकूलाः, पदानुपदं बाधा च सन्तिष्ठते। पुनरपि '**न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः**' इदमेव सत्यं समुद्घाटितं भवति। अतः **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत** इति वचनमुद्घोषयन्ती निजविचारान् समुपस्थाप्यात्रैव निजवाचं विरमामि।

शोधच्छात्रा
राष्ट्रिय–संस्कृत–संस्थानम्,
जयपुरपरिसरः

सन्दर्भ सूची :–

१. गीता–६.२९।
२. ऋग्. १०/५३/६।
३. यजुर्वेदः–३४.२०।
४. यजु. ३१/११।
५. यजु. ३१/१०।
६. यजु. ३०/५।
७.ऋग्.–१०/१९१/३।।
८.ऋग्.– १०/१९१/४।
९. तैत्तिरीय–आरण्यके,अष्टतप्रपाठके प्रथमानुवाके।
१०. यजु.–७/१४।

भवभूतेः कृतिषु पर्यावरण-चेतना

-सौरभार्यः

पर्यावरणसंचेतनायाः भावना प्रत्येकस्मिन् काले विद्यमाना आसीत्। संस्कृतस्य कवयः स्वकाव्यरचनाभ्यः पूर्वं तेषु काव्येषु सन्ध्यासूर्यचन्द्ररात्रिदिवसपर्वतवननद्यादीनां यथास्थानं वर्णनं कुर्वन्ति। प्रकृतिप्रेम एव पर्यावरणसंरक्षणस्य मूलमस्ति,अनेन एव प्राकृतिकतत्त्वान् प्रति दिव्यभावना विकसिता भवति। संस्कृतसाहित्यसदृशं नान्यत् पर्यावरणचिन्तनस्य अपरप्राचीनसाहित्यं साम्प्रतम् उपलभ्यते। पर्यावरणस्य व्युत्पत्तिलभ्यः अर्थः अयमस्ति - परि+आवरणम्=पर्यावरण्म् 'परितः आव्रियते आच्छाद्यते येन तत् पर्यावरणम्। पारिभाषिकशैल्यां वक्तुं शक्यते यत् कञ्चिदपि जीवं परितो विद्यमानः समस्तसजीवपरिवेशः पर्यावरणं विद्यते यस्मिन् जीवो निवसति। अनया दृष्ट्या वायुमेघाग्निजलभूमि-जीवजन्तव इत्यादीनि पर्यावरणीयतत्त्वानि उच्यन्ते।

संस्कृत-साहित्ये महाकवेः भवभूतेः पर्यावरणं प्रति चिन्तनमत्युत्तमं दृश्यते। महाकवेः भवभूतेः तिस्रो नाट्यकृतयः उपलब्धाः सन्ति। १.उत्तररामचरितम् २.महावीरचरितम् ३.मालतीमाधवम्।

एतेषु त्रिषु नाटकेषु महाकविभवभूतिना अनेक स्थलेषु प्राकृतिकतत्त्वानां माध्यमेन स्वकृतयः समलङ्कृताः। यत् दृष्ट्वा भवभूतेः प्रकृतिप्रेम्णः समुत्कृष्टतायाः दर्शनं भवति। अधुना पक्षे अस्मिन् कानिचित् उदाहरणानि प्रस्तूयन्ते उत्तररामचरिते द्वितीयाङ्के शीतलजलयुक्तसरिताम् सौन्दर्यपूर्णवर्णनम् -

इहसमदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्त-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणाम श्यामजम्बू निकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः॥

अत्र मदमत्तपक्षिणो वेतसानां लतासु उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य उपविशन्ति ततः ताभ्यः शाखाभ्यः कुसुमानि नीरे निपतन्ति येन सरितां शीतलं जलं पुष्पाणां गन्धसम्पर्केण सुरभितं भवति।

कवेः यावती रूचिः छिन्नभिन्नोद्यानत डगाादि वर्णने भवितव्या तावती एव रूचिः गम्भीर भयानकवन वर्णने मरूभूमिवर्णने पशुपक्षिवर्णने चापि भवितव्या। पक्षेऽस्मिन् - यथा उत्तररामचरितम् भयावहवनानां ग्रीष्मर्तौ मध्याह्नस्य च वर्णनम्। यथादण्डकवनवर्णनम् -

निष्कूजस्तिमिताःक्वचित् क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः,
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।
सीमानःप्रदरोदरेषु विरल स्वल्पाम्भसो या स्वयं ,
तृष्यद्भिः प्रति सूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते॥

-उत्तर० २/१६

यदा वयं महाकविं भवभूतिं अनया दृष्ट्या पश्यामः तदा भवभूतिः वस्तुतः उच्चरूचेः उच्चकोट्याश्च कविः प्रतीयते दृश्यते च। अस्यां शृंखलायां भवभूतिः स्वशार्दूलविक्रीडितछन्दोबद्धपद्येऽस्मिन् कावेरी- तीरभूमेः वर्णनमति चारुतरं करोति।

यत्पर्यन्तमहीध्रसीम्निकुहलीमाध्वीकधारोद्गिरद्
धृष्यत्पूगवनीधनीकृततलैस्तुङ्गैर्जरच्छाखिभिः।
लक्ष्यन्ते विविधाश्रमाः स्थिरतपः स्वाध्यायसाक्षात्कृत-
ब्रह्माणो निवसन्ति यत्र मुनयः कल्पस्थितेः साक्षिणः॥
(महा०७/९३)

यत्र पुरातनवृक्षैः ऋषीणाम् विविधा आश्रमाः लक्षिता भवन्ति येषु तपसा स्वाध्यायबलेन च ब्रह्मज्ञानिनः कल्पस्थितेः साक्षिणो मुनयो निवसन्ति। पर्यावरणस्य यान्यपि रूपाणि प्रसङ्गतः नाटकानां प्रकृते-रचनानुकूलतया चोपस्थितानि अभवन् महाकविना भवभूतिना अपूर्वसफलतयाः प्रेम्णा च वर्णितानि सर्वाणि। महाकविर्भवभूतिना पर्यावरणसंरक्षणदृष्ट्यां प्राकृतिकतत्त्वानां चयनमतिनिपुणतया कृतम्। संस्कृतनाट्यजगति महाकविर्भवभूतेः पर्यावरणपरकदृष्टिः

अनुपमा उत्तमा चास्ति। महावीरचरिते वषर्तौः दर्शनमपि करणीयम् अस्माभिः –

अपि च विघटमानप्रौढतापिच्छनीलः।

श्रयति शिखरमद्रेर्नूतनस्तोयवाहः॥ (महा०५/४२)

अत्र वर्णयति कविः विकसितप्रौढतमालवृक्षस्य इव श्यामवर्णः नूतनोऽयं मेघः पर्वतशिखासु आयाति। एवमेव मालतीमाधवस्य नवमाङ्के प्राकृतिकतत्त्वेषु वायुजलमेघवर्णनम् –

तत्र भगवन् पौरस्त्य वायो!

भ्रमय! जलदानम्भोगर्भान्प्रमोदय चातकान् –

कलयशिखिनः केकोत्कण्ठान्कठोरय केतकान्।

विरहिणि जने मूर्च्छां लब्ध्वा विनोदयति व्यथा–

मकरुण! पुनः संज्ञाव्याधिं विधायं किमीहसे?

(मालती०१/४२)

अर्थात्– भगवन्! पूर्वदिशः वायुदेव! त्वम् आभ्यन्तरजलयुक्तान् मेघान् तीव्रगत्या सञ्चालय,चातकान् आनन्दय, केकोत्कण्ठान् मयूरान् नर्तय, केतकीवृक्षान् च पोषय।

उत्तररामचरिते तपोवनस्य वर्णनमति मनोहारी विद्यते यत्र पर्वतस्त्रोतानां तटेषु निवसन्तः वानप्रस्थाः आतिथेयं परमं कर्त्तव्यं मन्यन्ते स्म मुष्टिमात्र अन्नेन जीवनयापनं कुर्वन्ति स्म एवं ते संयमिनः अहिंसाधर्म परिपालयन्तः पर्णशालासु एव सानन्दं निवसन्ति स्म। उक्तं यथा– **एतानि तानि गिरिनिर्झरिणी तटेषु वैखानासाश्रिततरूणि तपोवनानि। येष्वातिथेय परमा यमिनो भजन्ते नीवारमुष्टिपचना गृहिणो गृहाणि ॥(उत्तर९/२५)** एवं प्राकृतिकतत्त्वानानां माध्यमेन कविः पर्यावरणचेतनायाः उदाहरणमस्माकं समक्षे प्रस्तौति। संसारेऽस्मिन् प्राकृतिकशक्तयः एव सर्वेभ्यः अन्नजलवायुप्रकाशादि पदार्थान् ददति। यद्येताः शक्तयः नराणां प्रतिकूलाः भवेयुः तर्हि सर्वेषां जीवनमत्र नष्टप्रायम् एव भविष्यति। अतः एतासां प्राकृतिक शक्तीनामनुकूलतायाः प्रार्थना कवीनामिव अस्माभिरपि करणीया।

पर्यावरणम् अस्माकं पृथिव्यां जीवनस्य आधारो वर्तते यन्न केवलं मानवानामपितु सर्वचेतनप्राणिनां वनस्पतीनां चोद्भवविकासयोः आधारो विद्यते। सम्प्रति सभ्यतायाः विकासे वर्तमानकाले मानवेन यौन्नतिः कृता तत्र पर्यावरणस्य महत्त्वपूर्णं योगदानमस्ति भविष्यति च।

भारतीय संस्कृतेः प्रतिनिधिः महाकविभवभूतेः प्रकृतिप्रेमः वस्तुतः पर्यावरणं प्रति सुचिन्तनं सर्वेषां कष्ट्निवारणस्य सर्वकल्याणसिद्धेः सर्वकामनापूर्त्तेः सर्वत्रानन्दप्रदानस्य च सुमंगलभावनया ओतप्रोतमस्ति। उपर्युक्तानां केषाञ्चित् उदाहरणानां माध्यमेन वयं ज्ञातुं शक्नुमः यत् भवभूतेः पर्यावरणविषयकचिन्तनमति विशालमस्ति।

साम्प्रतम् अद्यतनीया आवश्यकता अस्ति यत् वयं स्वादर्शकवीनाम् ऋषीणां च पदचिह्नेषु चलन्तः – प्रकृतिप्रेमं हृदयस्थं कृत्वा पर्यावरणशुद्धिकरणाय यथाशक्तिः अस्माभिः प्रयतितव्यम् तदैव 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' इत्युद्घोषो जीवनेऽस्माकं चरितार्थो भविष्यतीति।

श्यामाप्रसादमुखर्जी महाविद्यालय,

दिल्लीविश्वविद्यालय

जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है उसी का नाम धर्म और इस से विपरीत जो पक्षपात सहित अन्यायाचरण सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहण रूप कर्म है उसी को अधर्म कहते हैं।

–सत्यार्थ–प्रकाश, पंचमसमुल्लास